

जे. कृष्णमूर्ति

ज्ञात से मुक्ति

ज्ञात से मुक्ति

हिन्दी अनुवाद : Freedom From The Known

द्वितीय संस्करण

मार्च १९८८

मूल्य : रु० [illegible]०.००

प्रकाशक :

कृष्णमूर्ति फाउन्डेशन इण्डिया
राजघाट शिक्षा संस्थान
राजघाट फोर्ट, वाराणसी
२२१००१

मुखपृष्ठ : किरण वि. खलप

मुद्रक :

तारा प्रिंटिंग वर्क्स
वाराणसी

ज्ञात से मुक्ति

जे० कृष्णमूर्ति

सम्पादन : मेरी लट्यन्स

अनुवाद : हरीश

कृष्णमूर्ति फाउन्डेशन इण्डिया
राजघाट फोर्ट, वाराणसी-२२१००१

हिन्दी में प्राप्य जे० कृष्णमूर्ति की अन्य कृतियाँ

१. ध्यान
२. हिंसा से परे
३. गरुड़ की उड़ान
४. संस्कृति का प्रश्न
५. शिक्षा एवं जीवन का महत्त्व
६. शिक्षा संवाद
७. शिक्षा केन्द्रों के नाम पत्र
८. सीखने की कला
९. अन्तरतर का सहज प्रस्फुटन
१०. प्रेम, स्वयं से एक संलाप
११. आमूल क्रान्ति की आवश्यकता
१२. परम्परा, जिसने अपनी आत्मा खो दी है
१३. प्रथम और अंतिम मुक्ति
१४. जीवन भाष्य

कृष्णमूर्ति फाउण्डेशन इण्डिया
राजघाट फोर्ट, वाराणसी—२२१००१

यह पुस्तक कृष्णमूर्ति के सुझाव पर तैयार की गई है और इसे उनका अनुमोदन प्राप्त है। हाल में, विश्व के विभिन्न भागों में श्रोताओं को दी गई अंग्रेजी वार्ताओं में से, जो टेप की गई थीं और पहले अप्रकाशित थीं, उन्हीं में से उनके वचनों का चयन किया गया है। इनके चयन तथा जिस क्रम में ये प्रस्तुत हैं, उनके लिये मैं उत्तरदायी हूँ।

—मेरी लट्यन्स

विषय-सूची

एक

मनुष्य की खोज—सताया हुआ मन—परंपरागत मार्ग—प्रतिष्ठा का मोहजाल—मानव एवं व्यक्ति—अस्तित्व की लड़ाई—मनुष्य की बुनियादी प्रकृति—उत्तरदायित्व—सत्य—आत्मरूपांतरण—ऊर्जा का क्षय सत्ता से मुक्ति

युगों-युगों से मनुष्य स्वयं से परे, भौतिक कल्याण से परे कोई चीज़ खोजता चला आ रहा है—ऐसी चीज़ जिसे हम सत्य, परमात्मा, यथार्थ या एक 'कालातीत अवस्था' के नाम से पुकारते हैं—ऐसी चीज़ जिसे परिस्थितियाँ, विचार या मानव भ्रष्टाचार छू तक न पाये।

मनुष्य ने हमेशा यह प्रश्न पूछा है : आखिर यह सब है क्या ? जीवन का कोई अर्थ भी है क्या ? नज़र डालने पर वह देखता है कि चारों ओर क्रूरताओं, विद्रोहों, युद्धों, धर्म के अनंत विभाजनों, विभिन्न विचारधाराओं और राष्ट्रीयता का ही बोलबाला है। जीवन एक महा उपद्रव बनकर रह गया है। एक गहन आंतरिक कुंठा-बोध से भर कर वह पूछ बैठता है : वह करे क्या ? जिसे हम जीना कहते हैं यह चीज़ क्या है और इससे भी परे कुछ है क्या ?

और हजार नामों वाली इस नामरहित चीज़ को सदा खोजने पर भी न पाकर वह आस्था पैदा कर लेता है—आस्था किसी एक उद्धारक या आदर्श में—और आस्था ही तो सारी हिंसा की जड़ है।

यह सतत संग्राम, जिसे हम जीना कहते हैं, इसके भीतर हम कोशिश करते हैं कि एक आचार-संहिता बना लें, जो उस समाज के मुताबिक हो जिसमें हम पले-बढ़े हैं, चाहे वह एक साम्यवादी समाज हो या तथाकथित स्वतंत्र समाज। हम अपनी परंपरा के अंग के रूप में आचार-व्यवहार के एक मानदंड को स्वीकार कर लेते हैं—उस

परंपरा के अधीन हम हिंदू, मुसलमान, ईसाई या जो कुछ भी हों। हम किसी व्यक्ति के भरोसे बैठे रहते हैं जो हमें बता दे कि कौन-सा आचरण सही या गलत है, कौन-सा विचार सही या गलत है। और दूसरे के बताये हुए इस नक्शे और ढाँचे पर चलते-चलते हमारे आचार और हमारे विचार यांत्रिक हो जाते हैं, हमारी प्रतिक्रियाएँ स्वचालित हो जाती हैं। अपने भीतर यह सब हम बड़ी आसानी से देख सकते हैं।

सदियों से हमारे गुरुओं ने, हमारे धर्माधिकारियों ने, हमारे ग्रंथों ने, हमारे संतों ने हमें जो कुछ बताया उसे हमने दूध-पीते बच्चे की तरह ग्रहण कर लिया। हम उनसे कहते हैं, "इसके बारे में मुझे सब कुछ बताइए—पहाड़ियों, पर्वतों और पृथ्वी के उस पार क्या है?" और हम उनके वर्णनों से संतुष्ट हो जाते हैं, जिसका अर्थ है कि हम शब्दों पर ही जीते हैं। इसीलिए हमारा जीवन छिछला और खोखला हो गया है। हम सेकेन्डहैन्ड लोग हैं—पुराने और गये-बीते। हमें जो बताया गया है हमने उसी पर जिया है, या तो अपने झुकावों, अपनी प्रवृत्तियों से निर्देशित होकर या परिस्थितियों एवं परिवेश द्वारा स्वीकार करने के लिए बाध्य होकर। नाना प्रकार के प्रभावों के ही हम परिणाम हैं और हमारे भीतर कुछ भी नया नहीं, कुछ भी तो नहीं जिसे हमने अपने लिए खोजा हो; कुछ भी मौलिक नहीं, कुछ भी आदिम, साफ-स्पष्ट नहीं।

धर्म और अध्यात्म के पूरे इतिहास-क्रम में हम धार्मिक नेताओं द्वारा आश्वस्त किये गये हैं कि अगर हम कुछ निश्चित कर्मकांडों को सम्पन्न करें, कुछ निश्चित प्रार्थनाओं या मंत्रों को दोहरायें, कुछ निश्चित नक्शों पर चलें, अपनी इच्छाओं का दमन करें, विचारों पर नियंत्रण रखें, अपनी वासनाओं को सही दिशा और मार्ग दें, अपनी भूख को सीमित करें, यौन आचार से बचें, तो इस तरह शरीर और मन को पर्याप्त यातना देने के बाद हमें इस क्षुद्र जीवन के पार की कुछ प्राप्ति हो जायेगी। और यही तो युगों-युगों से लाखों तथाकथित धार्मिक लोगों ने किया है, या तो अकेले किसी रेगिस्तान, पहाड़ या गुफा में जाकर या एक भिक्षा-पात्र लेकर गाँव-गाँव भटकते हुए,

अथवा एक समूह के साथ एक मठ में सम्मिलित होकर एक पिटी-पिटायी लीक पर चलने के लिए अपने मन को मजबूर करते हुए। लेकिन एक सताया हुआ मन, एक टूटा हुआ मन, जो सब प्रकार-उपद्रव से पलायन करना चाहता है, जिसने बाहरी संसार को नकार दिया है और अनुशासन एवं नियमबद्धता के द्वारा मंद और जड़ हो गया है—ऐसा मन चाहे जब तक खोज में लगा रहे, वह जो कुछ पायेगा वह इसकी विकृतियों एवं इसके तोड़-मरोड़ का ही नतीजा होगा।

तो यह खोज करने के लिए कि इस चिंताग्रस्त, दोषी, भयभीत, प्रतिस्पर्धात्मक जगत् और अस्तित्व से परे सचमुच कुछ है या नहीं, मुझे ऐसा लगता है कि व्यक्ति के पास एक बिलकुल ही भिन्न ढंग की दृष्टि और पहुँच होनी चाहिए। परंपरागत मार्ग रहा है परिधि से भीतर की ओर, काल क्रम में संसार-त्याग और साधना द्वारा, धीरे धीरे बढ़ते हुए उस आंतरिक पुष्प तक पहुँचना—उस आंतरिक सौंदर्य और प्रेम तक। वस्तुतः परंपरागत पद्धति का अर्थ है अपने को संकुचित, क्षुद्र और निकृष्ट बनाने के लिए हर संभव प्रयास करना; धीरे-धीरे परत-दर-परत उघाड़ना; समय गँवाना; आज नहीं तो कल; नहीं तो अगला जीवन ही सही—और इस तरह अंत में जब आदमी केन्द्र तक पहुँचता है तो वह यही पाता है कि वहाँ तो कुछ भी नहीं है। लकीर पीटते-पीटते ही तब तक उसका मन असमर्थ, मंद और असंवेदनशील बन गया होता है।

इस पूरे विधि-विधान और प्रक्रिया को ध्यान से देखने के बाद व्यक्ति स्वयं से पूछता है, क्या इस सबसे अलग एक बिलकुल ही भिन्न मार्ग नहीं हो सकता है? क्या यह संभव नहीं है कि हम अपने केन्द्र से ही विस्फोट करें?

दुनिया तो परंपरागत मार्ग को ही स्वीकार करती है और उस पर चलती है। हमारे भीतर जो अव्यवस्था और गड़बड़ी है उसका प्राथमिक कारण है दूसरे द्वारा प्रचारित सच्चाई की हमारी तलाश। अगर हमें कोई विश्वास दिला दे कि उसके पास आध्यात्मिक जीवन

जीने का एक आरामदेह नुस्खा है, तो हम आँख मूँदकर उसके पीछे चलने को तैयार हो जाते हैं। सबसे अद्भुत बात एक यह है कि हालाँकि हममें से अधिकांश लोग राजनीतिक अत्याचार और तानाशाही के खिलाफ हैं, लेकिन अपने आंतरिक जगत् में हमने दूसरे के अधिकार और अत्याचार को मंजूर कर लिया है ताकि वे हमारे मन एवं जीवन-पद्धति को तोड़-मरोड़ डालें। अतः अगर हम इन सभी तथाकथित आध्यात्मिक सत्ता को, सभी अनुष्ठान, विधि-विधान, मत-मतांतरों को पूर्ण रूप से अस्वीकार कर दें, बौद्धिक रूप से नहीं बल्कि वास्तविक रूप से, तो इसका मतलब है कि अब हम अकेले खड़े हो गये और शुरू हो गया हमारा भीड़ और समाज के साथ संघर्ष। अब हम प्रतिष्ठित लोगों में से नहीं रहे। और एक प्रतिष्ठित व्यक्ति संभवतः उस असीम, अनंत, सच्चाई के पास फटक भी नहीं सकता।

अब आपने शुरुआत की है उसको अस्वीकार करके जो झूठ और गलत है, जैसे परंपरागत पद्धति। लेकिन अगर आपका अस्वीकार प्रतिक्रियास्वरूप है, तब तो आपने फिर एक दूसरी पद्धति रच डाली, जिसमें आप उलझ कर रह जायेंगे। अगर आप बौद्धिक रूप से अपने को समझाते हैं कि यह अस्वीकार एक बड़ा ही उत्तम विचार है, लेकिन इस सम्बन्ध में आप करते कुछ नहीं, तो आप कुछ भी दूर नहीं जा पायेंगे। इसके विपरीत, अगर आप इसलिए अस्वीकार करते हैं क्योंकि सारे धार्मिक गोरखधंधों की नासमझी और नादानी को आप समझते हैं यानी अगर आप प्रचंड बोध और विवेक से उस सबको ठुकरा दें—क्योंकि आप स्वतंत्र हैं, भयभीत नहीं—तो आप अपने भीतर और बाहर चारों ओर एक गहन अशान्ति और अस्थिरता को जन्म देंगे लेकिन आप प्रतिष्ठा के मोहजाल से बाहर आ जायेंगे। तब आप पायेंगे कि अब आप कुछ खोज नहीं रहे हैं। और सीखने की पहली चीज़ यही है कि खोजना नहीं है कुछ। जब आप खोजते हैं, तो यह कुछ वैसा ही हुआ जैसे आप किसी बड़ी दुकान के भीतर घूमते हुए सामान सब देखे जा रहे हैं और खरीदना आपको कुछ भी नहीं है।

कोई ईश्वर, सत्य या यथार्थ, या आप इसे जो नाम देना चाहें, है या नहीं, इस प्रश्न का उत्तर पुस्तकों, पुरोहितों, दार्शनिकों एवं मुक्ति-दाताओं के पास किसी हालत में नहीं है। कोई भी और कुछ भी इस प्रश्न का उत्तर नहीं दे सकता है—सिवाय आपके। और इसीलिए आपका स्वयं को जानना परम आवश्यक है। स्वयं का पूर्ण अज्ञान ही अपरिपक्वता का कारण है। स्वयं को समझना बोध और प्रज्ञा का प्रारम्भ है।

और आप स्वयं क्या हैं? मेरा मतलब है, व्यक्ति के रूप में आप क्या हैं? मेरी समझ से मानव और व्यक्ति के बीच एक अन्तर है। व्यक्ति एक स्थानीय हस्ती और सत्ता है, एक ख़ास मुल्क में रहने वाला, एक ख़ास संस्कृति, एक खास समाज, एक ख़ास धर्म और मज़हब से सम्बन्ध रखने वाला। मानव स्थानीय हस्ती नहीं है। वह हर जगह है। अगर व्यक्ति जीवन के विशाल क्षेत्र के एक किसी ख़ास कोने में ही कार्यरत है, तो उसकी क्रिया समग्र से बिलकुल असंबद्ध है। अतः आप यह बात ख़याल में रखें कि हमलोग समग्र की चर्चा कर रहे हैं, अंश की नहीं, क्योंकि विराट् में तो क्षुद्र समाया हुआ है, लेकिन क्षुद्र में विराट् कहाँ! व्यक्ति तो संस्कार, दुःख और कुंठा से ग्रसित अदना-सा एक मामूली प्राणी है जो अपने थोड़े-से देवी-देवताओं और अपनी छोटी-मोटी परंपराओं के साथ संतुष्ट रहता है, जबकि एक मानव का लगाव तो संसार के समग्र कल्याण, समग्र दुःख और समग्र अशांति से है।

हम मानव लाखों वर्ष पहले जैसे थे वैसे ही आज भी हैं—असीम रूप से लोभी, ईर्ष्यालु, आक्रमणशील, जलनशील, चिताग्रस्त और निराश—खुशी और स्नेह के क्षण तो बस कभी-कभी ही। हम नफरत, भय और भद्रता के अजीब मिश्रण हैं; हम हिंसा और शान्ति दोनों हैं। बाहरी तरक्की तो बैलगाड़ी से जेट विमान तक की हो गयी है लेकिन मनोवैज्ञानिक रूप से व्यक्ति बिलकुल नहीं बदला है, और संसार भर में समाज का ढाँचा तो व्यक्तियों का ही बनाया हुआ है। बाहरी सामाजिक ढाँचा हमारे मानव सम्बन्धों के भीतरी मनो-

वैज्ञानिक ढाँचे का ही नतीजा है, क्योंकि व्यक्ति स्वयं मनुष्य के पूरे अनुभव, ज्ञान और आचरण का नतीजा है। हममें से हर कोई पूरे अतीत का भंडार है। व्यक्ति ही तो मानव है जो संपूर्ण मनुष्य जाति है। मनुष्य का पूरा इतिहास हमारे भीतर लिखा हुआ है।

जरा ध्यान से देखिये कि वस्तुतः क्या घटित हो रहा है आपके भीतर और आपके बाहर, इस प्रतिस्पर्धात्मक संस्कृति में, जिसमें आप इसकी शक्ति, पद, प्रतिष्ठा, नाम, सफलता आदि की आकांक्षाओं के साथ जीते हैं। उन उपलब्धियों को भी ग़ौर से देखिये जिन पर आपको इतना गर्व और नाज़ है। और इसी पूरे क्षेत्र को आप जीना कहते हैं जिसमें हर तरह के आपसी संबंधों में द्वंद्व मौजूद है, जो नफ़रत, कट्टर विरोध, क्रूरता और अनंत युद्धों को पैदा करता है। यही क्षेत्र, यही जीवन, बस इतना भर हम जानते हैं, और अस्तित्व की इस बृहत् लड़ाई को समझने में अपने को असमर्थ पाकर हम स्वभावतः इससे भयभीत हो जाते है और हर तरह के सूक्ष्म तरीकों और रास्तों द्वारा पलायन करना चाहते हैं। और हम अज्ञात से भी भयभीत हैं—मृत्यु का भय, कल के आगे क्या है इसका भय। तो हम ज्ञात से भयभीत हैं और अज्ञात से भी। यही हमारा दैनिक जीवन है और इसमें कोई भी आशा नहीं है, और इसलिए हर तरह की दार्शनिक प्रणाली, हर तरह की धर्म-ईश्वर संबंधी धारणा, 'जो है' की सच्ची हक़ीकत से एक पलायन के सिवा और कुछ नहीं है।

बाहरी और ऊपरी तल पर सभी परिवर्तन एवं बदलाव जो युद्धों, क्रांतियों, सुधारों, कानूनों एवं विचारधाराओं के द्वारा लाये गये, वे न तो आदमी के बुनियादी स्वभाव को बदलने में सफल हो सके और इसीलिए न ही समाज के बुनियादी स्वभाव को। इस निहायत कुरूप और विकराल संसार में रहनेवाले हम लोग मानव होने के नाते स्वयं से पूछें : क्या प्रतिस्पर्धा, क्रूरता और भय पर आधारित इस समाज का अंत हो सकता है? बौद्धिक धारणा या आशा और संभावना के तल पर नहीं बल्कि एक हक़ीकत और तथ्य के रूप में, क्योंकि तभी

अपने मन को पुनः ताज़ा, युवा, नया और निर्दोष बनाया जा सकता है। और एक बिलकुल ही भिन्न संसार के निर्माण के लिए ऐसे ही मन की आवश्यकता है। मैं समझता हूँ कि यह तभी हो सकता है जब हममें से हर कोई इस मुख्य तथ्य को पहचान ले कि व्यक्तियों और मानवों के रूप में—हम चाहे संसार के जिस किसी भाग में रहते हों या जिस किसी संस्कृति से हमारा संबंध हो—हम ही संसार की इस सारी स्थिति के लिए ज़िम्मेदार हैं।

इस पृथ्वी पर होनेवाले हर युद्ध के लिए हम लोगों में से हर कोई ज़िम्मेदार है, क्योंकि युद्ध की शुरुआत तो खुद अपने जीवन में आपस के हमारे लड़ाई-झगड़ों से, हमारी कट्टर राष्ट्रीयता से, स्वार्थपरता से, हमारे पूर्वाग्रहों, आदर्शों और ईश्वर-देवताओं से होती है। क्योंकि ये सब बातें हमें आपस में बाँट देती हैं। क्या हम इस बात को महसूस करते हैं, बौद्धिक रूप से नहीं बल्कि वास्तविक रूप से कि आप और मैं, हम दोनों ज़िम्मेदार हैं इस सब मौजूदा अव्यवस्था और दुर्दशा के लिए, संसार भर में फैली सारी विपत्ति और दुर्गति के लिए—क्योंकि अपने दैनिक जीवन में हमने इस सब में अपनी ओर से योगदान किया है, और इस तरह युद्ध, विभाजन, लोभ, क्रूरता और अपनी कुरूपता से अभिशप्त और त्रस्त इस विकराल समाज के हम हिस्से हैं ? इस दिशा में हम सही कदम तभी उठा पायेंगे जब हम इन सारी बातों को सचमुच महसूस करेंगे, जैसे हम भूख लगने या दर्द होने पर उसे महसूस करते हैं।

लेकिन एक बिलकुल ही भिन्न समाज की रचना करने के लिए एक मानव क्या कर सकता है, या आप और हम क्या कर सकते हैं ? हम लोग अपने आपसे एक बहुत गंभीर सवाल पूछ रहे हैं। किये जाने लायक कुछ भी है क्या ? क्या कर सकते हैं हम ? क्या कोई व्यक्ति हमें बतायेगा ? लोगों ने हमें बताया तो है। तथाकथित आध्यात्मिक गुरुओं ने जिनके बारे में ऐसा माना जाता है कि वे इन चीज़ों को हमसे बेहतर समझते-बूझते हैं, हमें तोड़-मरोड़कर एक नये साँचे में ढालने की अपनी कोशिश द्वारा बहुत कुछ बता दिया। लेकिन यह

हमें बहुत दूर नहीं ले जा पाया। होशियार और विद्वान पुरुषों ने भी हमें रास्ता बताया है और वह भी हमें कुछ अधिक दूर नहीं ले जा सका। हम लोगों को कहा गया है कि सभी रास्ते और पथ सत्य तक जाते हैं—एक हिन्दू के रूप में तुम्हारा अपना मार्ग हैं, एक ईसाई होने के नाते उसका अपना मार्ग और किसी मुसलमान का अपना, और ये सब एक ही द्वार पर मिलते हैं। अगर आप इसको ध्यान से देखें, तो यह बेहद बेतुकी बात है। सत्य का कोई मार्ग नहीं होता। और यही तो सत्य का सौंदर्य है। सत्य जीवंत हैं। रास्ते तो केवल एक मरी हुई चीज़ तक पहुँचने के लिए होते हैं, क्योंकि मरी चीज़ स्थिर होती है। तो जब आप बोधपूर्वक देखते हैं कि सत्य कुछ ऐसा है जो सजीव है, गतिशील है, जिसका कोई पड़ाव नहीं है, जो किसी मंदिर, मसजिद या गिरजाघर में नहीं है, जिस तक कोई धर्म, कोई गुरु, कोई दार्शनिक, कोई नहीं आपको पहुँचा सकता—तब आप यह भी देखेंगे कि यह जीवित चीज़ वही है जो वस्तुतः स्वयं आप हैं—आपका क्रोध, आपकी क्रूरता, आपकी हिंसा, आपकी निराशा, वेदना और दुःख जिसमें आप जीते हैं। इस सब की समझ में ही सत्य छिपा है, और इसे आप तभी समझ सकते हैं यदि आप जानते हों कि अपने जीवन में इन चीज़ों को ठीक-ठीक कैसे देखें, कैसे निरीक्षण करें। और यह ठीक-ठीक देखना तब तक नहीं होगा जब तक आप किसी विचारधारा से बँधकर देख रहे हैं, जब तक आप शब्दों, आशाओं और भय के परदे के जरिये देख रहे हैं।

तो अब आप देख रहे हैं कि किसी पर भी निर्भर और आश्रित नहीं हुआ जा सकता। कोई राह दिखानेवाला नहीं है, कोई गुरु नहीं है, कोई अधिकारी, कोई सत्ता नहीं। तो अब बचे केवल आप--आपका दूसरों के साथ और जगत के साथ संबंध—इसके सिवा और कुछ नहीं। जब आप इसे महसूस कर लेते है तब या तो आपके लिये यह गहन निराशा उत्पन्न करता है, जिससे खीझ और कटुता पैदा होती हैं, या यह तथ्य कि आपके सिवा यहां कोई दूसरा ज़िम्मेदार नहीं है इस संसार के लिए, अपने आपके लिए, आप जो सोचते और अनुभव

करते हैं उसके लिए। आपके जीने और कार्य करने के ढंग के लिए-तो इस तथ्य का सामना करने मात्र से सारी आत्म-दयनीयता और आत्म-निंदा चली जाती है। सामान्यतः दूसरों पर दोषारोपण और उनकी निंदा पर ही हम जीते और मौज करते हैं, जो वस्तुतः आत्म-निंदा का ही एक रूप है।

तब क्या आप और हम बिना किसी बाहरी प्रभाव और हस्तक्षेप के, बिना किसी के समझाये-बुझाये, बिना किसी दबाव और भय के अपने प्राणों के प्राण में एक समग्र क्रांति, एक मनोवैज्ञानिक परिवर्तन ला सकते हैं ताकि हम क्रूरता, हिंसा, चिंता, प्रतिस्पर्धा, भय, लोभ, ईर्ष्या तथा अपनी प्रकृति की उन सभी अभिव्यक्तियों के अधीन न रह जायें जिन्होंने उस सड़े-गले समाज का निर्माण किया है जिसमें हम अपना रोजमर्रा का जीवन जी रहे हैं।

आरम्भ से ही यह बात समझ लेना आवश्यक है कि मैं कोई विचारों का आध्यात्मिक ढाँचा नहीं खड़ा कर रहा हूँ, न दर्शन या धर्म-ईश्वर सम्बन्धी किसी अवधारणा और मत का सूत्रपात कर रहा हूँ। मुझे लगता है कि सभी विचारधाराएँ पूर्णरूप से बुद्धि-हीनता और नासमझी की ही उपज हैं। यहाँ आवश्यक यह नहीं है कि हमारे पास कोई जीवन-दर्शन है या नहीं।आवश्यक है अपने दैनिक जीवन में हमारे भीतर और बाहर जो चल रहा है, जो हो रहा है उसको ध्यानपूर्वक देखना। जो हो रहा है उसको अगर आप काफी ध्यान से देखें और उसकी जाँच-पड़ताल करें, तो आप पायेंगे कि यह एक बौद्धिक अवधारणा पर आधारित है, लेकिन बुद्धि ही अस्तित्व का संपूर्ण क्षेत्र नहीं है, यह एक खंड है, और एक खंड चाहे वह जितनी कुशलता और बुद्धिमत्ता से बना हो, चाहे जितना प्राचीन और पारम्परिक हो, है तो अस्तित्व का एक छोटा-सा अंश मात्र ही, जबकि हमें तो जीवन की समग्रता से सरोकार है। और जब हम संसार में जो हो रहा है उस पर नज़र डालते हैं, तो हम समझना आरंभ कर देते हैं कि बाह्य और आंतरिक जैसी कोई अलग-अलग प्रक्रिया नहीं है। वस्तुतः संसार एक ही एकात्मक और अविभाजित प्रक्रिया है। यह प्रक्रिया

एक पूर्ण और समग्र गतिविधि है—आंतरिक गतिविधि अपने को बाह्य रूप में अभिव्यक्त करती है और पुनः बाह्य गतिविधि आंतरिक पर प्रतिक्रिया करती है। क्या इतना भी हम ठीक-ठीक देख सकते हैं? मेरी समझ से आवश्यकता केवल इतनी-सी है। क्योंकि अगर हम देखने की कला सीख जायें, तो सब कुछ हमारे सामने साफ और स्पष्ट हो जाता है। और देखने के लिए न किसी दर्शनशास्त्र की जरूरत है न किसी गुरु की। कैसे देखें, यह दूसरा व्यक्ति आपको बता भी कैसे सकता है! आप बस देखें।

इस पूरी तसवीर को देखते हुए, शाब्दिक रूप से नहीं बल्कि वस्तुतः, क्या अब आप अपने को सरलता और सहजता से रूपांतरित कर सकते हैं? और यही असली मुद्दा है। क्या अपने मानस में एक संपूर्ण क्रान्ति लाना संभव है?

पता नहीं, ऐसे सवाल पर आपकी क्या प्रतिक्रिया है! आप कह सकते हैं, "मैं बदलना नहीं चाहता।" और बहुत से लोग नहीं चाहते, खासकर वे लोग जो सामाजिक और आर्थिक रूप से अच्छी तरह सुरक्षित हैं या वे जो किसी मत विशेष के सिद्धांतों को पकड़े बैठे हैं और अपने आपको और चीज़ों को जिस तरह वे हैं वैसे ही या कुछ परिवर्तित रूप में स्वीकार कर संतुष्ट हो चले हैं। यहाँ हमें उन लोगों से मतलब नहीं है। या आप स्वयं ज्यादा चालाकी और सफाई से कह सकते हैं, "खैर, यह तो अत्यन्त कठिन है, यह मेरे लिए नहीं है।" इसका अर्थ हुआ कि आपने अपने को पहले ही अवरुद्ध कर लिया, आपकी जिज्ञासा और खोजबीन यहीं खत्म हो गयी और इस लिए अब आगे बढ़ने से कोई फ़ायदा नहीं। नहीं तो आप फिर यह कह सकते हैं, "मैं अपने भीतर एक मौलिक आंतरिक परिवर्तन की आवश्यकता महसूस करता हूँ, लेकिन मैं इसे लाऊँ तो कैसे? कृपया मुझे रास्ता दिखायें, इस ओर मेरी मदद करें।" अगर आप ऐसा कहते हैं, तब इसका अर्थ है कि आपका सीधा संबंध परिवर्तन से नहीं है; आपकी वास्तविक अभिरुचि एवं लगन एक मौलिक क्रांति

में नहीं है; बल्कि आप परिवर्तन लाने के लिए सिर्फ एक विधि की, एक पद्धति की तलाश कर रहे हैं।

अगर मैं आपको एक पद्धति बताने की मूर्खता करूँ और आप भी उस पर एक निपट मूर्ख की भाँति चलने लगें, तो मात्र इतना ही होगा कि आप अंधाधुंध कोई चीज़ स्वीकार कर उसकी नकल और उसका अनुकरण करने लगेंगे, उसके अनुरूप अपने को ढालने लगेंगे। और यदि आप ऐसा करते हैं तो इसका अर्थ है कि आपने अपने भीतर दूसरे की सत्ता को स्थापित कर लिया। और इसलिए यहीं से आपके और उस सत्ता के बीच संघर्ष की शुरुआत हो जाती है। आप यहसूस करते हैं कि अमुक चीज़ आपको जरूर करनी चाहिए क्योंकि यह करने के लिए आपको कहा गया है। और फिर भी आप यह करने में असमर्थ रहते हैं। आपके कुछ अपने अलग झुकाव, दबाव और कुछ खास प्रवृत्तियाँ हो सकती हैं, इनका संघर्ष और द्वन्द्व उस पद्धति से हो जाता है जिसका पालन करना आप अपना धर्म समझते हैं, और इसीलिए यहाँ एक अंतर्विरोध पैदा होता है। तो अब आप उस पद्धति की विचारधारा और अपने दैनिक जीवन की वास्तविकता के बीच एक दोतरफा ज़िंदगी जियेंगे। उस विचारधारा के अनुरूप अपने को ढालने की कोशिश में आप स्वयं अपना ही दमन करते हैं, जब कि तथ्य और हक़ीकत वह है जो आप हैं, न कि वह विचारधारा। अगर आप दूसरे के अनुसार अपने को अध्ययन करने की कोशिश कर रहे हैं, तो आप हमेशा एक सेकेन्डहैन्ड अर्थात् गये-बीते मनुष्य ही बने रहेंगे।

एक आदमी कहता है, "मैं बदलना चाहता हूँ, लेकिन मुझे बतायें कि कैसे ?" ऐसा आदमी बड़ा सच्चा, बड़ा गंभीर मालूम पड़ता है, लेकिन वह ऐसा है नहीं। वह अपने से बड़ी किसी सत्ता का सहारा लेना चाहता है और वह आशा करता है कि वह (बाह्य) सत्ता ही उसके भीतर व्यवस्था ला देगी। लेकिन क्या कोई भी बाह्य सत्ता कभी भी आंतरिक व्यवस्था ला सकती है ? बाहर से थोपी गयी व्यवस्था हमेशा अव्यवस्था ही पैदा करेगी। इस सच्चाई को शायद

आप बौद्धिक रूप से देख सकते हैं, लेकिन क्या आप इसको अपने भीतर वस्तुतः लागू कर सकते हैं ताकि आपका मन फिर कभी किसी सत्ता की ओर उन्मुख न हो, सत्ता चाहे जिसकी हो : पुस्तक, गुरु, पति या पत्नी, माता-पिता, मित्र या समाज की सत्ता ? चूँकि हम सदा किसी सिद्धांत-सूत्र के ढाँचे में ही जीते हैं, यह सिद्धांत-सूत्र पहले विचारधारा और फिर सत्ता बन जाता है। लेकिन जिस क्षण आपने वस्तुतः देख लिया कि यह प्रश्न "मैं कैसे बदलूँ ?" एक नयी सत्ता को निमंत्रित करता है, आप सदा के लिए सत्ता से मुक्त हो गये।

अतः हमारे भीतर जो अब समझ पैदा हुई है उसे हम इस तरह व्यक्त कर सकते हैं : मैं महसूस करता हूँ कि मुझे अवश्य ही अपने प्राणों के मूल से पूरा का पूरा बदलना चाहिए, मैं किसी परंपरा पर अब और अधिक निर्भर नहीं हो सकता, क्योंकि परम्परा ने ही घोर आलस्य, स्वीकार और आज्ञाओं के पीछे दौड़ने की प्रवृत्ति मुझमें पैदा की है। अपने को बदलने के लिए संभवतः मैं दूसरे से किसी मदद की आशा नहीं कर सकता, और न ही कोई गुरु, कोई ईश्वर, कोई आस्था, कोई पद्धति, कोई बाहरी दबाव या प्रभाव मदद कर सकता है। तो इसके बाद क्या होता है ?

सर्वप्रथम क्या आप सारी सत्ता को अस्वीकार कर सकते हैं ? अगर हाँ, तो इसका अर्थ है अब आप ज़रा भी भयभीत नहीं हैं। तब क्या होता है ? जब आप किसी झूठ और गलत चीज़ को अस्वीकार कर देते हैं, जिसे आप पीढ़ियों से अपने साथ ढोते चले आ रहे थे, जब आप किसी प्रकार के बोझ को उतार फेंकते हैं, तो क्या होता है ? आपके पास पहले से अधिक ऊर्जा और शक्ति आ जाती है। क्या नहीं आती ? आपके पास अधिक क्षमता, अधिक जोश और लगन, अधिक तीव्रता और जीवंतता आ जाती है। अगर यह सब आप अपने भीतर नहीं अनुभव करते हैं तब आपने अभी बोझ को नहीं उतार फेंका है अर्थात् आपने सत्ता के मरे हुए बोझ को अपने ऊपर से हटा कर अभी अलग नहीं किया है।

लेकिन अगर आपने इसे दूर फेंक दिया है और आपके पास अब वह ऊर्जा है जिसमें भय नाम की चीज़ नहीं है—कोई भूल करने का भय नहीं, सही या गलत करने का डर नहीं—तब क्या वह ऊर्जा स्वयं परिवर्तन नहीं है? हमें भारी मात्रा में ऊर्जा की आवश्यकता पड़ती है, और जब हम भय से ग्रसित होते हैं तो इस ऊर्जा का क्षय और अपव्यय हो जाता है। लेकिन सब प्रकार के भय से मुक्ति के बाद जो एक नयी ऊर्जा आती है वह ऊर्जा स्वयं एक आमूल आंतरिक और आत्मिक क्रांति को जन्म देती है। इस संबंध में आपको करना कुछ नहीं होता।

तो अब आप केवल अपने ही संग-साथ बचे रह गये—और यही वास्तविक अवस्था है 'होने की' उस व्यक्ति के लिए, जो इस सब के प्रति अति गंभीर और सच्चा है। और जैसा कि अब आप किसी व्यक्ति और किसी चीज़ से सहायता की कोई आशा नहीं रखते, आप अब अपनी खोज में पूर्णतः मुक्त हैं। और जब मुक्ति होती है तो ऊर्जा भी होती है। और यह मुक्ति कुछ ऐसी चीज़ है कि इससे कभी कोई गलती होती ही नहीं। मुक्ति विद्रोह से बिलकुल भिन्न चीज़ है। इस मुक्ति के रहते हुए सही या गलत करने जैसी कोई चीज़ नहीं रह जाती। आप तब मुक्त हैं। मुक्ति के इसी केंद्र से आपकी सारी क्रियाएँ और आपके सारे कृत्य जन्म लेते हैं। और इसलिए तब किसी भय का अस्तित्व नहीं होता। भय से मुक्त मन में अपार प्रेम की क्षमता और सामर्थ्य आ जाती है। और जब यह प्रेम है, तो यह जो चाहे सो कर सकता है।

इसलिए अब जो हम करने जा रहे हैं वह है अपने बारे में सीखना, मेरे अनुसार नहीं, न ही किसी मनोविश्लेषक या दार्शनिक के अनुसार—क्योंकि अगर हम किसी और व्यक्ति के अनुसार अपने बारे में सीख रहे हैं, तो हम उसके बारे में सीख रहे हैं, अपने बारे में नहीं। हम वस्तुतः क्या हैं, यही हम सीखने जा रहे हैं।

अपने मानस के ढाँचे के भीतर एक समग्र क्रांति लाने के लिए हम किसी बाहरी सत्ता पर निर्भर नहीं हो सकते। इस बात की अनुभूति के

बाद सबसे बड़ी कठिनाई जो हमारे सामने आती है वह है स्वयं की आंतरिक सत्ता को अस्वीकार करना—अपने कुछ खास छोटे-बड़े अनुभवों की सत्ता एवं संग्रह किये हुए ज्ञान, विचार, धारणा और आदर्शों की सत्ता। कल आपने एक अनुभव हासिल किया जिसने आपको कुछ सिखाया और इसने जो कुछ सिखाया वह एक नयी सत्ता बन जाता है—और कल की यह सत्ता उतनी ही विनाशकारी है जितनी एक हजार वर्ष पूर्व की। स्वयं को समझने के लिए किसी सत्ता की आवश्यकता नहीं है, चाहे यह कल की सत्ता हो या एक हजार वर्ष पहले की, क्योंकि हम तो जीवित चीज़ हैं, हमेशा चलते हुए, बहते हुए, बिना कभी ठहरे। कल की मरी हुई सत्ता के साये में खड़े होकर जब हम अपने को देखते हैं, तो हम अपने 'होने' की जीवित गतिविधि और इसके सौंदर्य एवं गुणवत्ता को समझने से चूक जाते हैं।

समस्त सत्ता, स्वयं की और दूसरे की, से मुक्त होना बीते हुए कल की हर चीज़ के प्रति मर जाना है, ताकि आपका मन सदा ताज़ा, युवा, निर्दोष बना रहे—ओज और आवेग से भरपूर। केवल ऐसी अवस्था में ही कोई सही-सही देख सकता है और सीख सकता है। और इसके लिए बड़ी मात्रा में सजगता और होश आवश्यक है—वास्तविक सजगता और होश, उसके प्रति जो आपके भीतर सतत चल रहा है, बिना इसे सही और ठीक करने के सूक्ष्म प्रयास के या बिना यह भाव मन में लाते हुए कि इसे ऐसा होना चाहिए, ऐसा नहीं। क्योंकि जिस क्षण आप इसे सही और ठीक करने का प्रयास करेंगे, आप वहाँ पुनः दूसरी सत्ता बिठा देंगे—एक द्रष्टा की सत्ता।

यह पूरी जाँच-पड़ताल और छानबीन हम सब साथ-साथ कर रहे हैं, यह नहीं कि एक व्यक्ति व्याख्या कर रहा है और आप सीख रहे हैं, उसके साथ सहमत या असहमत हो रहे हैं। बल्कि एक यात्रा में हम सम्मिलित रूप से चल रहे हैं—खोजबीन की वह यात्रा जो हम अपने मन के गुप्त और छिपे हुए कोनों में जाने के लिए कर रहे

हैं। इस यात्रा में हम काफ़ी हलके होकर ही चल सकते हैं। धारणाओं, पूर्वाग्रहों, निष्कर्षों—यानी वह सब काठ-कबाड़ जो हमने विगत दो हजार वर्ष से भी अधिक सयय से इकट्ठा कर रखा है—इस बोझ से लदे रहकर हम यह यात्रा नहीं कर सकते। आप अपने बारे में जो कुछ जानते हैं उन सब को भूल जायें, आपने अपने बारे में कभी कुछ सोचा है उसे भी भूल जायें। हम आरम्भ ऐसे करें मानो हमने कभी कुछ जाना ही नहीं।

कल रात जोरों की वर्षा हुई, और अब आकाश साफ होना शुरू हो रहा है; यह एक नया ताज़ा दिन है। इस ताज़ा दिन से हम इस तरह मिलें मानो अस्तित्व का यह एकमात्र दिन हो। कल की सारी याद को पीछे छोड़ते हुए हम साथ-साथ इस यात्रा पर रवाना हों—और पहली बार स्वयं को समझने की शुरुआत करें।

दो

स्वयं के बारे में सीखना—सरलता और विनम्रता—संस्कारबद्धता

केवल मेरे या किसी और के कहने से ही अगर आपने मान लिया है कि स्वयं के बारे में जानना महत्त्वपूर्ण है, तो फिर डर यही है कि हमारे बीच चल रहा संवाद अब और आगे नहीं बढ़ पायेगा। लेकिन अगर हम इस सत्य के प्रति एकमत और एकबोध हैं कि हमारा स्वयं को पूर्णतः समझना सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण और आवश्यक है, तो आपके और मेरे बीच फिर एक बिलकुल अलग ही रिश्ता होता है। तब हम साथ-साथ एक सुखद, सतर्क और विवेकपूर्ण जिज्ञासा के साथ खोजबीन कर सकते हैं।

मैं आपकी आस्था अर्जित करना नहीं चाहता। न ही मैं अपने को एक नयी सत्ता के रूप में प्रतिष्ठित कर रहा हूँ। आपको सिखाने के लिए मेरे पास कुछ है भी नहीं—कोई नया दर्शन, कोई नयी पद्धति, सचाई तक पहुँचने का कोई नया मार्ग, कुछ भी नहीं। आपको सचाई तक पहुँचना हो या सत्य तक, कोई रास्ता वहाँ जाता भी नहीं। मनुष्य के चिंतन और समझ के क्षेत्र में चाहे किसी प्रकार की कोई भी सत्ता हो, वह अत्यंत विनाशकारी और बुरी चीज़ है। नेता लोग अनुयायियों का सत्यानाश कर डालते हैं और अनुयायी उनका। आपको स्वयं अपना गुरु होना है और अपना शिष्य भी। आदमी ने बहुमूल्य और आवश्यक बातों के रूप में आज तक जो कुछ स्वीकार कर रखा है उस सब पर आपको शंका और प्रश्न खड़ा करना है।

जब तक आप किसी के पीछे नहीं चलते तब तक आपको बड़ा अकेला-सा लगता है। तब तो बेहतर है कि अकेले ही हो जाएँ। आप अकेले होने से डरते क्यों हैं? क्योंकि तब आपका स्वयं से

साक्षात्कार हो जाता है। तब आप 'जो हैं' वह आपके सामने आ जाता है, और आप पाते यही हैं कि आप भीतर से खोखले, मंद, वेवक़ूफ और कुरूप हैं, चिंता और अपराध भाव से ग्रस्त हैं, अर्थात् एक क्षुद्र, निकृष्ट, घटिया और वदतर आदमी हैं। इस कटु वास्तविकता का सामना कीजिए। इसको देखिए और परखिए। भागिए मत इससे। जिस क्षण आप इससे भागते और मुकरते हैं, भय आपका पीछा करना शुरू कर देता है।

अपने भीतर की ओर लौटकर स्वयं अपनी जाँच-पड़ताल और छानबीन करते हुए हम अपने को शेष जगत से कोई अलग-थलग नहीं कर रहे हैं। यह कोई अस्वास्थ्यकर प्रक्रिया भी नहीं है। पूरे संसार में आदमी ठीक उन्हीं दैनिक समस्याओं में उलझा हुआ है—जैसे हम। अतः हम कोई विक्षिप्त और पागल नहीं हैं जो अपने भीतर की इस खोजवीन और जाँच-पड़ताल में लगे हैं। सोचिए कि व्यक्ति और समूह में आखिर फर्क ही क्या है! व्यक्तियों से पृथक् होकर समूह का कोई अस्तित्व नहीं होता। यह एक वास्तविक तथ्य है। जैसा मैं हूँ वैसा ही संसार मैंने अपने हाथों निर्मित किया है। अतः हमे सचेत और सतर्क रहना है कि हम व्यष्टि और समष्टि के बीच, समस्त और खंड के बीच के विवाद और द्वंद्व में ही न कहीं उलझे रह जाएँ।

हमारा परिचय अपने 'स्व' के समग्र क्षेत्र से होना चाहिए, जो कि व्यक्ति की चेतना है और समाज की भी। और जब मन वैयक्तिक चेतना और सामाजिक चेतना के पार चला जाता है, तब हम स्वयं अपने लिए एक ज्योति वन सकते हैं जो कभी बुझती नहीं।

स्वयं को समझने का प्रारंभ हम कहाँ से करें? यहाँ मैं हूँ, और जानना चाहता हूँ कि मैं स्वयं का अध्ययन कैसे करूँ, स्वयं का निरीक्षण कैसे करूँ, मेरे भीतर वस्तुतः जो सतत चल रहा है उसे कैसे देखूँ? दरअसल केवल परस्पर संबंधों के भीतर झाँककर ही मैं स्वयं का निरीक्षण कर सकता हूँ, क्योंकि आपसी संबंधों का ही

दूसरा नाम तो जीवन है। एक कोने में बैठकर और आसन जमा कर केवल अपने वारे में चिंतन-मनन करने से क्या फायदा! मेरा अस्तित्व स्वयं की सीमा में ही तो सिमटा हुआ नहीं है। मेरे अस्तित्व का फैलाव तो मेरे संबंधों में है--लोगों के साथ मेरा संवंध, वस्तुओं और विचारों के साथ मेरा संबंध। जब मैं लोगों के साथ अपने संबंध का एवं बाहरी और भीतरी चीज़ों के साथ अपने संबंध का अध्ययन करता हूँ, तभी वास्तविक अर्थों में मैं स्वयं को समझना आरंभ करता हूँ। इसके अतिरिक्त दूसरे ढ़ंग की जो भी समझ है वह कोरी काल्पनिकता है, और कल्पना में बहकर तो मैं स्वयं का अध्ययन नहीं कर सकता! मैं कोई काल्पनिक हस्ती नहीं हूँ, इसलिए स्वयं का अध्ययन मैं ठोस वास्तविकता में ही कर सकता हूँ—यानी वस्तुतः जैसा मैं हूँ, न कि जैसा मैं होना चाहता हूँ।

इसे हम अच्छी तरह ख्याल में रख लें कि समझ एक बौद्धिक प्रक्रिया नहीं है। अपने बारे में ज्ञान अर्जित करना और अपने वारे में सीखना, ये दो भिन्न चीज़ें हैं, क्योंकि अपने बारे में आप जो ज्ञान संग्रह करते हैं वह हमेशा अतीत का होता है। और जो मन अतीत के बोझ तले दवा है, वह प्रायः दुःख और संताप से घिरा हुआ मन होता है। अपने बारे में सीखना एक भाषा या विज्ञान या टेकनौलजी सीखने की तरह नहीं है—वहाँ तो ज़ाहिर है आपको ज्ञान का स्मरण और संग्रह करना पड़ता है, नहीं तो हर बार पुनः क ख ग से शुरू करना पड़ेगा। लेकिन मन के क्षेत्र में, अपने बारे में सीखना हमेशा वर्तमान में ही संभव है, जबकि ज्ञान हमेशा अतीत से बँधा होता है। चूँकि हममें से अधिकांश लोग अतीत में ही जीते हैं और अतीत से ही संतुष्ट रहते हैं, ज्ञान हमारे लिए असाधारण महत्त्व की चीज़ बन गया है। इसलिए तो आखिर इस संसार में विद्वान, कुशल और होशियार लोगों की इतनी पूजा होती है। लेकिन अगर आप हर समय सीख रहे हैं, हर मिनट सीख रहे हैं, निरीक्षण करते हुए और ध्यानपूर्वक सुनते हुए सीख रहे हैं, देखते हुए और कुछ करते हुए सीख रहे हैं, तब आप पायेंगे कि सीखना अतीत से अछूती एक अनवरत गतिविधि है।

अगर आप कहते हैं कि आप अपने बारे में धीरे-धीरे, क्रमिक रूप से सीखेंगे—थोड़ा-थोड़ा करके, उत्तरोत्तर वृद्धि करते हुए—तो आप अभी 'जो हैं' उसका अध्ययन आप नहीं कर रहे हैं, बल्कि अपने बारे में जो ज्ञान आपने संग्रह किया है उसी के आईने में आप स्वयं का अध्ययन कर रहे हैं। सीखने का अर्थ है एक अपार संवेदनशीलता। अगर कोई विचार या धारणा, अर्थात् जो अतीत की पैदाइश है, हमारे वर्तमान पर हावी है। वहाँ संवेदनशीलता नहीं होती, क्योंकि तब हमारा मन तीव्र, सुग्राही और सजग नहीं होता। हममें से अधिकांश लोग तो शारीरिक रूप से भी संवेदनशील नहीं हैं। हम प्रायः जरूरत से ज़्यादा खा लेते हैं। हम इसकी फ़िक्र नहीं करते कि सम्यक् आहार क्या है। फिर हम अत्यधिक शराब और सिगरेट इत्यादि भी पीते हैं। इस सबसे होता यह है कि हमारा शरीर स्थूल और असंवेदनशील बन जाता है। शरीर में सजगता और सतर्कता, जो कि उसका अपना गुण-धर्म है, वह मंद और मलिन पड़ जाता है। अगर स्वयं शरीर ही भारी और स्फूर्तिहीन हो, तो एक अत्यंत सजग, संवेदनशील और सुस्पष्ट मन आयेगा कहाँ से ? कुछ ख़ास चीज़ें जो हमें व्यक्तिगत रूप से कहीं न कहीं छू जाती हैं, उनके प्रति हम संवेदनशील हो सकते हैं, लेकिन जीवन के सभी सूक्ष्म इशारों, अर्थों और अभिव्यक्तियों के प्रति समग्र रूप से संवेदनशील होने के लिए ज़रूरी है कि शरीर और मानस के बीच कोई विभाजन-रेखा न खींची जाए। यह एक-दूसरे में समाहित एक समग्र गतिविधि है।

इस जीवन और जगत में किसी भी चीज़ को समझना हो तो आपको उसके साथ रहना और जीना पड़ता है; उसका निरीक्षण करना पड़ता है; उसकी सारी अंतर्वस्तु को, उसकी प्रकृति को, उसकी बनावट को एवं उसकी गतिविधि को जानना पड़ता है। इसी तरह स्वयं को समझने के लिए क्या कभी आपने निपट अपने साथ रहकर और जी कर देखा है ? अगर हाँ, तो आपको यह दिखाई पड़ना शुरू हो जाता है कि आपकी दशा निश्चल और स्थिर वस्तु जैसी नहीं है; बल्कि आप ताज़ा और जीवित वस्तु की तरह हैं। और एक जीवित

चीज़ के साथ जीने के लिए निश्चय ही आपके मन को भी जीवंत और जीता-जागता होना चाहिए। यह जीवंतता तब विदा हो जाती है जब मन अपने मतों, फैसलों और तथाकथित मूल्यों के शिकंजे में कस जाता है।

अपने मन एवं हृदय की, अपने पूरे अस्तित्व की गतिविधि का निरीक्षण करने के लिए यह आवश्यक है कि हमारे पास एक मुक्त और स्वच्छंद मन हो। ऐसा मन नहीं जो केवल सहमति और असह-मति के बीच डोलता रहता है, जो दलील देकर अपना पक्ष लेता रहता है और जो खाली शब्दों पर विवाद करने के लिए तैयार रहता है। मन ऐसा होना चाहिए जिसका इरादा है स्वयं को समझते हुए जीना। और है यह बहुत मुश्किल बात, क्योंकि हममें से अधिकांश लोग तो जानते ही नहीं कि वे स्वयं के 'होने' को कैसे देखें और इसके सूक्ष्म स्वरों को कैसे सुनें। और तो और, हमें तो यह भी नहीं पता कि नदी के सौंदर्य को कैसे देखें और निहारें, पेड़ों के झुरमुटों के बीच चलती मंद हवाओं की आहटों और इसके संगीत को ध्यानपूर्वक कैसे सुनें।

कई कारणों से हमारा देखना ठीक-ठीक नहीं हो पाता। जब हम समर्थन करते हैं या निंदा से भरे होते हैं, तो ऐसी हालत में हम साफ़-साफ़ नहीं देख पाते। जब हमारे मन में निरंतर विचारों का ताँता लगा रहता है तब भी हमारा देखना साफ़ और स्पष्ट नहीं होता। तब हम 'जो हैं' उसे नहीं देख पाते। क्योंकि तब हम अपने जिस रूप का बाहर प्रक्षेपण करते हैं केवल उसी को देख पाते हैं। हममें से हर किसी ने अपने मन में अपनी एक प्रतिमा और तसवीर बना रखी है—जो हमारी समझ से 'हम हैं' या 'हमें होना चाहिए'। और इस प्रतिमा और तसवीर के कारण ही 'हम जो वस्तुतः हैं' उसे देखने से हम वंचित रह जाते हैं।

इस जगत की कठिनतम चीज़ों में से एक है, किसी भी चीज़ को सरलता से देख पाना। चूंकि हमारा मन बहुत जटिल और पेचीदा

है, हमने सरलता की गुणवत्ता खो दी है। मेरा मतलव भोजन और वस्त्रों की सरलता और सादगी से नहीं है—एक धोती लपेट कर या एक लंगोटी पर ही गुज़ारा करना, लंवे उपवास के पिछले सारे कीर्तिमान को तोड़ डालना, या इसी तरह की कोई अन्य वचकानी हरकत जो तथाकथित साधु-संत करते रहते हैं, उससे तात्पर्य नहीं है। मैं उस सरलता की वात कर रहा हूँ जो चीज़ों को विलकुल सीधा-सीधा देखती है, जो विना किसी तोड़-मरोड़ के हमें उसी रूप में देखती है जो वस्तुतः हम हैं—जव हम झूठ वोलें तो जो कहे कि हम झूठ वोल रहे हैं, इससे मुकर नहीं जाये, भाग नहीं जाये। यह सरलता विलकुल निर्भय होती है।

स्वयं को समझने हेतु एक और जो वात हमारे लिए आवश्यक है, वह है असाधारण रूप से विनम्र होना। "मैं स्वयं को जानता हूँ!" इस अकड़ के साथ अगर आपने आरम्भ किया, तव तो वस हो चुका आपका स्वयं के वारे में सीखना! या अगर आप ऐसा कहते हैं, "स्वयं के वारे में सीखने को वहुत है ही क्या, क्योंकि मैं तो स्मृतियों, धारणाओं, अनुभवों और परंपराओं का एक वंडल मात्र हूँ"—तव भी आप स्वयं के वारे में सीखने से वंचित रहेंगे। स्वयं के वारे में सीखने का आरम्भ एक विनम्र भंगिमा से होना चाहिए। होता यह है कि जिस क्षण आपको ऐसा लगता है कि आपने कुछ पा लिया, कुछ हासिल कर लिया, उसी क्षण आपके भीतर निर्दोषता और विनम्रता की गुणवत्ता खत्म हो जाती है। जिस क्षण आप एक निष्कर्ष निकाल लेते हैं या आप अपने संगृहीत ज्ञान से अपनी खोजवीन और जाँच-पड़ताल का आरम्भ करते हैं वहीं पर आप चूक जाते हैं, समाप्त हो जाते हैं। क्योंकि तव आप हर जीवित और ताज़ा चीज़ को पुरानी और वासी नज़र से देख रहे होते हैं। इसके विपरीत, अगर आपके पास न कोई निश्चितता है, न कोई उपलब्धि है, अर्थात् आरम्भ के पूर्व आपके पैर किसी आधार-भूमि के साथ चिपके हुए नहीं हैं, तो आपके पास एक स्वतंत्रता है, एक मुक्ति है—देखने की, उपलब्ध करने की। और जब इस मुक्ति के साथ आप देखना प्रारम्भ करते हैं तो

आप हमेशा अपने लिए नये होते हैं, जगत की हर चीज़ हर क्षण तब आपके लिए नयी होती है। इसके विपरीत, एक आत्मविश्वासी व्यक्ति बिलकुल मरा हुआ आदमी होता है।

हमारे जन्म से लेकर मृत्यु तक हमारी संस्कृति के प्रभावों द्वारा हमारे मन का विकास 'मैं' के एक संकीर्ण दायरे में ही होता है। ऐसी हालत में हमारे देखने और सीखने में स्वतंत्रता आये तो कैसे ? आप चाहे जो भी उदाहरण लें, वे सदियों से हमारे मन को विभिन्न प्रभावों और संस्कारों के बंधन में बाँधते रहे हैं। परम्परा, धर्म, शिक्षा, साहित्य, कला, रीति-रिवाज, प्रथा और परिपाटी, भाषा, जाति, वर्ग, राष्ट्रीयता, विभिन्न तरह के प्रचार और वितंडावाद, आर्थिक दबाव, जो कुछ हम खाते हैं, जलवायु जिसमें हम रहते हैं, हमारा परिवार, हमारे दोस्त, हमारे अनुभव – इन सबों के सम्मिलित प्रभावस्वरूप हमारी सोच-समझ को एक सीमा मिल गयी है। इसीलिए जीवन की हर समस्या के प्रति हमारी समाधान-दृष्टि संकुचित और संस्कारवद्ध है।

सर्वप्रथम क्या आपको इसका बोध है कि आप संस्कारों में जकड़े हुए हैं ? स्वयं से पूछने लायक पहला सवाल यही है, यह नहीं कि आप अपने संस्कारों से मुक्त कैसे हों। क्या पता, उतावलेपन के कारण आप शायद इससे मुक्त न भी हो पायें और अगर आप कहते हैं, "मैं तो इससे मुक्त होकर ही रहूँगा," तो बहुत संभावना यही है कि इस जल्दबाजी और अधीरता के कारण आप दूसरे ढंग के संस्कारों के जाल में फँस जायेंगे। तो सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि आप यह साफ़-साफ़ देख लें कि आप संस्कारों में कैद हैं। क्या आपने कभी ख्याल किया है कि जब भी आप एक पेड़ पर नज़र दौड़ाते हैं और कह उठते हैं, "वह एक शाहबलूत का पेड़ है," या "वह एक बरगद का पेड़ है," तो वनस्पति-ज्ञान पर आधारित पेड़ों को विभिन्न नामों से देखने की आदत ने आपके मन को इस तरह वशीभूत कर रखा है कि 'आपके' और उस पेड़ को वस्तुतः 'देखने की घटना' के बीच शब्द बाधा बनकर चले आते हैं ? उस पेड़ के वास्तविक संपर्क में आने के

लिए आपको अपना हाथ उस पेड़ तक ले जाना पड़ेगा; उस पेड़ को स्पर्श करने के लिए शब्द आपकी कोई सहायता नहीं कर सकते।

आपको कैसे पता चलता है कि आप संस्कारों में बँधे हैं? कौन बताता है यह आपको? क्या कोई बताता है आपको कि आप भूखे हैं— सिद्धांत रूप में नहीं बल्कि भूख की वास्तविक अनुभूति? ठीक इसी तरह आप इस तथ्य का पता कैसे लगाते हैं कि आप संस्कारों में आबद्ध हैं? आपका एक समस्या, एक चुनौती की ओर प्रतिक्रिया करने का जो ढंग है क्या वही इस बात की गवाही नहीं देता है? जीवन की हर चुनौती का उत्तर आप अपनी संस्कारबद्ध मानसिकता से देते हैं, और चूँकि संस्कारबद्ध मानसिकता अधकचरी होती है, इसलिए इसकी प्रतिक्रिया भी अधूरी और अपर्याप्त होगी।

जब इसका स्पष्ट भान आपको हो जाता है तो जाति, धर्म और संस्कृति के संस्कारों में पगी मानसिकता से क्या आपको एक कैद का एहसास नहीं होता? संस्कारबद्ध मानसिकता के उदाहरण के रूप में आप राष्ट्रीयता को ही लें और अत्यन्त गंभीरता और समग्रता के साथ इसका सजगतापूर्वक निरीक्षण करें और पता लगायें कि आप इसमें मजा और रस लेते हैं या इसके खिलाफ़ विद्रोह का अनुभव करते हैं। अगर आप इसके विरुद्ध विद्रोह ही करना चाहते हैं, तो क्या यह संभव है कि आप पूरी की पूरी संस्कारबद्ध मानसिकता की चहारदीवारी को तोड़कर बाहर निकल आयें? लेकिन इसके विपरीत, अगर आप अपनी संस्कारबद्धता से संतुष्ट हैं, तो ज़ाहिर है कि इसके खिलाफ़ आप कोई पहल नहीं करेंगे। और अगर आप वस्तुतः असंतुष्ट हैं—क्योंकि इसके प्रति आप अब अत्यंत सजग और सचेत हो गये हैं—तो आप सहज ही यह देख लेंगे कि अब तक के जीवन में आपकी इस संस्कारबद्धता की ही उपज रही हैं आपकी सारी क्रियाएँ, सारी की सारी। इसलिए अब तक आप अतीत की मरी हुई लाश के साथ ही चिपके हुए जीते रहे हैं।

अब आप अपने लिए शायद यह भी देख पायें कि जब आपके दुःख-दर्द के बचाव और सुख के सातत्य के क्रम में कोई बाधा उपस्थित

होती है तभी आपकी संस्कारबद्धता जाग उठती है। अगर आपके चारों ओर सब कुछ ठीक-ठाक, सुखद रूप से चल रहा है : आपकी पत्नी आपको प्यार करती है, आप पत्नी को प्यार करते हैं, एक अच्छा-सा घर, अच्छे बच्चे और पर्याप्त रुपया-पैसा आपके पास है, तब आपको अपनी संस्कारबद्धता का पता भी नहीं चलता है। लेकिन जब इसमें कोई व्यवधान और बाधा खड़ी हो जाती है आपकी पत्नी की निगाह ज़रा दूसरे पुरुष की ओर चली गयी या आप अपना रुपया-पैसा गँवा बैठें या कोई पीड़ा, चिंता-फ़िक्र, लड़ाई का खतरा आप पर आ पड़ा-- तब अपना निरीक्षण करते हुए आपको अपनी संस्कारबद्धता का पता चलता है, क्योंकि यह अपना सिर ऐसी ही परिस्थितियों में उठाती है। जब आप किसी प्रकार की बाधा और विपत्ति से जूझ रहे होते हैं अथवा किसी बाहरी या आंतरिक संकट का सामना करते हुए अपनी रक्षा में लगे होते हैं, उस समय आसानी से आप अपने कृत्यों और क्रियाओं के आईने में अपने संस्कारों को देख सकते हैं। जैसा कि हममें से अधिकतर लोग अधिकांश समय किसी न किसी अशांति और उपद्रव के शिकार रहते हैं—गंभीर रूप से या सतही तौर पर—वह अशांति और उपद्रव ही इस बात की खबर देता है कि हम संस्कारबद्ध होकर जी रहे हैं। आपने देखा होगा, जब तक जानवर को लाड़-प्यार दिखाया जाता है तब तक वह अनुकूल प्रतिक्रिया करता है, लेकिन जिस क्षण उसका विरोध किया जाता है, उसके भीतर छिपी सारी हिंसा बाहर चली आती है।

जीवन, राजनीति, आर्थिक स्थिति, आतंक और बीभत्सता, क्रूरता, अपने भीतर और बाहर संसार में फैले दुःख और पीड़ा को लेकर हम प्रायः चिंतित और परेशान रहते हैं। हमारी अकारण चिंता और परेशानी मोल लेने की आदत हमारी संस्कारबद्ध मानसिकता की ही अभिव्यक्ति है। तो ऐसी स्थिति में हम क्या करेंगे ? अपने भीतर और बाहर के दुःख और पीड़ा को गले लगाकर क्या इसी के साथ जियेंगे, जैसे हममें से अधिकांश लोग कर रहे हैं ? क्या इसके अभ्यस्त और

आदी हो जायेंगे, जैसे कोई अपने शरीर की स्थायी बीमारी और पीड़ा के साथ जीने का अभ्यस्त और आदी हो जाता है ? क्या हमेशा के लिए इसके साथ समझौता कर लेंगे ?

लगभग हम सबमें एक सामान्य प्रवृत्ति पायी जाती है और वह है हमारा प्रतिकूल चीज़ों को बरदाश्त कर लेना या उनके साथ समझौता कर लेना, उनका अभ्यस्त और आदी बन जाना, उनका दोष परिस्थितियों पर डाल देना। "काश, हालात ठीक होते तो मैं बिलकुल भिन्न और अनूठा होता," ऐसा हम प्रायः बोल उठते हैं। या "अगर मुझे उपयुक्त अवसर मिल जाये तो मैं कुछ कर दिखाऊँ" या "मैं तो इस सारे अन्याय के पैरों तले कुचला और रौंदा गया हूँ"— इस तरह सदा हम अपनी दुःखद स्थिति के लिए दूसरों को दोषी ठहराते हैं अथवा अपने आसपास के वातावरण को या आर्थिक स्थिति को दोषी ठहराते हैं।

जब कोई अपनी दुःखद स्थिति का अभ्यस्त और आदी हो जाता है, तो वह अनजाने ही अपने मन को संवेदनशून्य और जड़ बना लेता है, वैसे ही जैसे कोई अपने चारों ओर बिखरे हुए प्राकृतिक सौंदर्य का इस हद तक अभ्यस्त और आदी हो जाये कि कभी उस ओर उसका ध्यान भी न जाये। इस तरह वह आदमी उदासीन, तटस्थ, सख्त और कठोर हो जाता है और उसका मन अधिक से अधिक मंद और जड़ बनता चला जाता है। अगर हम अपनी दुःखद स्थिति के आदी न हों, तो प्रायः होता यही है कि फिर हम विभिन्न माध्यमों और साधनों के द्वारा इससे पलायन कर जाने की, इसको भूल जाने की कोशिश करते हैं, जैसे—नशीली औषधियों का सेवन करना, राजनीतिक गतिविधियों में हिस्सा लेना, नारेबाजी और लेखन कार्य में व्यस्त रहना, फुटबॉल या क्रिकेट मैच देखना अथवा मंदिर या गिरजाघर में जाकर समय बिताना या मनबहलाव के अन्य साधनों की खोज करना।

ऐसा क्यों है कि हम जीवन की वास्तविकताओं से पलायन करने के प्रयास में लगे रहते हैं ? उदाहरण के तौर पर, हम मौत से भयभीत

रहते हैं और हमने सब तरह के सिद्धांत, आशा और आस्था का आविष्कार कर रखा है ताकि मौत की असलियत को छिपा सकें लेकिन फिर भी मृत्यु की असलियत और सचाई तो ज्यों की त्यों है। जीवन के किसी भी तथ्य को समझने के लिए आवश्यक यह है कि हम इसको ठीक-ठीक देखें, इससे आँख चुराकर भागे नहीं। हममें से अधिकांश लोग जीने से भी डरते हैं, मरने से तो डरते ही हैं। हम अपने परिवार को लेकर भयभीत रहते हैं। लोग मेरे बारे में क्या सोचते हैं, कहीं नौकरी तो मेरी नहीं चली जाएगी—अपनी सुरक्षा और इसी तरह की अन्य सैंकड़ों बातों को लेकर हम भयभीत रहते हैं। सीधा और सरल तथ्य यह है कि हम भयभीत हैं, किस बात से भयभीत हैं यह नहीं। तो प्रश्न यह उठता है कि इस तथ्य का हम सामना क्यों नहीं कर सकते ?

आप किसी तथ्य का तभी सामना कर सकते हैं जब वह आपके सामने उपस्थित हो; लेकिन चूँकि आप इससे हमेशा पलायन कर रहे हैं, इसलिए उसे आपके सामने उपस्थित होने का मौका ही नहीं मिलता और इसीलिए आप इसका सामना नहीं कर पाते हैं। चूँकि आपने पलायनों का एक लंबा-चौड़ा जाल बिछा रखा है, इसलिए आप इसमें बार-बार फँस जाने की आदत का शिकार हो चुके हैं।

अब आप अगर ज़रा भी संवेदनशील हैं, ज़रा भी गंभीर हैं, तो न केवल आप अपनी संस्कारबद्धता के प्रति सजग हो जायेंगे बल्कि इसके खतरनाक नतीज़ों के प्रति भी सतर्क, सचेत और सावधान हो जायेंगे—संसार में फैली क्रूरता और घृणा के लिए यह किस हद तक ज़िम्मेदार है ! लेकिन अगर आप इसके खतरे को देख रहे हैं, तब फिर ऐसा क्यों है कि आप इस दिशा में कोई पहल नहीं करते ? इसलिए तो नहीं कि आप आलसी हैं—आलस्य अर्थात् ऊर्जा की कमी ? अगर आप अचानक किसी शारीरिक खतरे को देखते हैं, जैसे आपके रास्ते में अचानक कोई साँप आ जाये या आप किसी खड़ी चट्टान के बिलकुल कगार पर पहुँच जायें, या भीषण आग में घिर जायें, तब तो

पहल करने के लिए आप में ऊर्जा की कमी नहीं रहती ! इसी तरह जब आप अपनी संस्कारबद्ध मानसिकता के खतरे को देखते हैं, तब आप पहल क्यों नहीं करते ? अगर आपको यह बोध हो जाये कि स्वयं अपनी सुरक्षा के लिए भी राष्ट्रीयता एक खतरा है, क्या तब भी आपके बोध से किसी कृत्य का जन्म नहीं होगा ?

इसका एक ही उत्तर है : आप अभी वस्तुतः देख ही नहीं रहे हैं। विश्लेषण की वौद्धिक प्रक्रिया द्वारा तो आप देख सकते हैं कि राष्ट्रीयता आत्म-विनाश की ओर ले जाती है, लेकिन इस देखने में आपने अपने हृदय और प्राणों को नहीं उँड़ेला है। और जब हमारा देखना और जीना हृदय और प्राणों के केंद्र से होता है तभी हम जीवंत होते हैं।

अगर आप अपनी संस्कारबद्ध मानसिकता के खतरे को केवल एक बौद्धिक धारणा के रूप में देख रहे हैं, तो इस संबंध में आप कुछ नहीं कर सकेंगे। एक खतरे को मात्र एक सिद्धांत के रूप में देखने से उस सिद्धांत और हमारी क्रिया के बीच एक विरोध और द्वंद्व पैदा होता है, और हमारी सारी ऊर्जा इसी विरोध और द्वंद्व में पड़कर खतम हो जाती है। जब आप संस्कारबद्धता और इसके खतरे को तत्क्षण देखते हैं–जैसे कभी आप अचानक अपने को एक खड़ी चट्टान के कगार पर खड़े देखें और दूसरे ही क्षण आप एक भयानक गहरी खाईं में गिरने-गिरने को हों—तो आप तत्काल पहल करते हैं। इसलिए देखना ही पहल करना है।

हममें से अधिकांश लोग यह जीवन एक बेहोशी और निद्रा की स्थिति में जिये चले जाते हैं। हमारी सारी प्रतिक्रियाएँ हमारे पारिवारिक एवं सामाजिक परिवेश से बँधी होती हैं और उसके पोछे कोई सोच-समझ नहीं होती। ऐसी प्रतिक्रियाएँ हमारे बंधन को, हमारी संस्कारबद्ध मानसिकता को केवल मज़बूत करने का काम करती हैं। लेकिन जिस क्षण आप पूरे के पूरे होश और ध्यान से अपनी संस्कारबद्धता के प्रति सजग और सचेत हो जाते हैं, उसी क्षण आप अतीत से पूर्णतः मुक्त हो जाते हैं। या यों कहें कि अतीत स्वयं आपका साथ छोड़ देता है।

तीन

चेतना—जीवन की समग्रता—सजगता

ज्यों-ज्यों आप अपनी संस्कारबद्ध मानसिकता के प्रति सजग और सचेत होने लगते हैं, त्यों-त्यों आपका परिचय अपनी संपूर्ण चेतना से होने लगता है। मनुष्य की चेतना एक विराट् क्षेत्र है; इसी क्षेत्र के भीतर चलता है विचारों का सारा खेल और इसी में फैला है मानव संबंधों का संपूर्ण जाल। हमारे सारे के सारे उद्देश्य, इरादे, आशाएँ इच्छाएँ, सुख-भोग, भय, अन्तःप्रेरणा, लालसा और उत्कंठा, सुख-दुःख और हर्ष-विषाद, चेतना के इसी जगत के हिस्से हैं। लेकिन चेतना के इस जगत को हमने विश्लेषण हेतु दो हिस्सों में विभाजित कर रखा है: सक्रिय और निष्क्रिय, अर्थात् चेतना का ऊपरी तल और चेतना का भीतरी तल। हमारे सामान्य विचार, भावनाएँ, दैनिक क्रिया-कलाप चेतना के ऊपरी सतह पर ही घटित होते हैं, और इस सतह के नीचे छिपा है हमारा तथाकथित 'अवचेतन'—सामान्य स्थितियों में जिसका हमें पता भी नहीं चलता। कभी-कभी सूक्ष्म संकेतों से हमें इसकी खबर मिलती है। हमारे स्वप्न और हमारी अंतर्दृष्टि इस अवचेतन की ही अभिव्यक्ति है।

हमारा अधिकांश जीवन चेतना के ऊपरी तल पर ही जीते हुए बीत जाता है। चेतना का शेष भाग हमारे अवचेतन का संसार है जो हमारे सारे उद्देश्यों, इरादों, भय, जातीय लक्षणों और विरासत में प्राप्त गुणों का भंडार है। यह अवचेतन हमारी दृष्टि और बोध से ओझल रहता है। अब मुझे आपसे पूछना यह है कि 'अवचेतन' नाम की कोई चीज़ होती भी है क्या? इस शब्द का प्रयोग हम काफी धड़ल्ले से करते हैं और इसके अस्तित्व को हमने स्वीकार भी कर रखा है। इस स्वीकार के साथ ही मनोवैज्ञानिकों और मनोविश्लेषकों की विशिष्ट शब्दावली और आकर्षक मुहावरे भाषा में टपक पड़े हैं।

तो क्या सचमुच 'अवचेतन' नाम की कोई पृथक् सत्ता है हमारी चेतना के भीतर? और आखिर हमने इसे इतना महत्त्व क्यों दे रखा है? मुझे तो लगता है कि हमारा अवचेतन भी उतना ही सतही, छिछला, दिखावटी, मूढ़, संकीर्ण, संस्कारबद्ध, कट्टर, धर्मांध और चिंताग्रस्त है जितना हमारा चेतन मन।

तो क्या यह संभव है कि हम चेतना के संपूर्ण क्षेत्र के प्रति समग्र रूप से सजग और सचेत हों, मात्र उसके एक खंड, एक अंश के प्रति नहीं? अगर आप इसकी समग्रता के प्रति सजग और सचेत हो पायें, तो इसका अर्थ यह हुआ कि आपका जीना और कार्य करना पूर्ण होश और ध्यान के साथ हो रहा है, केवल आंशिक होश और ध्यान के साथ नहीं। इसे ठीक-ठीक समझ लेना आवश्यक है, क्योंकि जब आप चेतना के संपूर्ण क्षेत्र के प्रति समग्र रूप से सजग और सचेत होते हैं, तो आपके भीतर संघर्ष के लिए जगह नहीं बचती। संघर्ष केवल तभी पैदा होता है जब आप चेतना को—जो हमारे संपूर्ण विचार, अनुभूति और कृत्य का भंडार है—विभिन्न तलों और हिस्सों में बाँट देते हैं।

हम खंडों में ही जीते हैं। अपने आफिस में आप एक चीज़ हैं, घर पर बिलकुल दूसरी। बात तो आप लोकतंत्र की करते हैं और दिल से हैं पक्के निरंकुश और स्वेच्छाचारी। पड़ोसियों के प्रति अपने प्रेम की चर्चा करते आप थकते नहीं और हक़ीकत यह है कि द्वेष और स्पर्धा की तलवार से आप उन्हें मारने पर तुले रहते हैं। तो इस तरह आपके भीतर का ही एक हिस्सा दूसरे हिस्से से बिलकुल बेखबर, अलग और स्वतंत्र होकर देखता और कार्य करता रहता है। क्या आप स्वयं के इस खंडित अस्तित्व से अवगत हैं, इसके प्रति सजग और सचेत हैं? वह मस्तिष्क और दिमाग जिसने अपने सोच-विचार को, कार्यक्षमता को, खंडों में तोड़ डाला है, क्या उसके लिए यह संभव है कि यह एक साथ अपने संपूर्ण अस्तित्व के प्रति, संपूर्ण क्षेत्र के प्रति सजग और सचेत हो सके? क्या अपनी पूरी की पूरी चेतना को संपूर्ण रूप से, समग्र रूप से एक साथ देख पाना संभव है? जिसका अर्थ हुआ, क्या हमारे लिए एक समग्र मानव हो पाना संभव है?

अब, अगर 'मैं' या 'स्व' की पूरी संरचना और ढाँचे को उसकी सारी असाधारण जटिलता के साथ समझने की दिशा में आप रुक-रुक कर, धीरे-धीरे आगे बढ़ते हैं, परत-दर-परत उभाड़ते हुए अपने एक-एक विचार अनुभूति और उद्देश्य को जाँचते और परखते हुए, तो आप विश्लेषण की एक अंतहीन प्रक्रिया में उलझ कर रह जायेंगे जो महीनों और वर्षों तक चलती चली जायेगी। इतना ही नहीं, स्वयं को समझने की प्रक्रिया में जब आप समय का सहारा लेते हैं, तो आप हर तरह की विकृति और तोड़-मरोड़ की गुंजाइश भी साथ-साथ पैदा कर लेते हैं। यह 'स्व' एक जटिल सत्ता है जो सतत अपने ऊपर कार्यरत नाना प्रकार के दबावों, तनावों और प्रभावों के अधीन जी रहा है, यात्रा कर रहा है, संघर्ष कर रहा है, इच्छा और इनकार कर रहा है। अतः अगर स्वयं को समझना और देखना हो, तो इसे समग्र रूप से वर्तमान के 'क्षण' में ही अर्थात् तत्काल 'अभी' ही देखा जा सकता है अन्यथा कभी नहीं। समय का तो सवाल ही नहीं है। स्वयं की समग्रता का दर्शन तभी हो सकता है जब मन खंडित न हो। इस तरह उस समग्रता में जो आप देखते हैं, वही सत्य है। वही आपकी कुल हक़ीकत है।

क्या आप वैसा कर पायेंगे ? हममें से अधिकांश तो नहीं, क्योंकि हमने इस विषय को कभी गंभीरता से लिया ही नहीं। क्योंकि हमने स्वयं को सचमुच कभी देखा ही कहाँ ! हम तो सदा दूसरे के दोषों को ढूँढ़ निकालने में लगे हैं। चीज़ों के बौद्धिक विश्लेषण और व्याख्या में ही व्यस्त हैं। इस तरह स्वयं को देखने से हम कतराते हैं, डरते हैं। लेकिन आप समग्रता से तभी देख सकते हैं, जब आप अपना पूरा होश और ध्यान लगाते हैं, अपने पूरे अस्तित्व और प्राणों से जुट जाते हैं, अपना सर्वस्व समर्पित कर देते हैं—अपनी आँखों को, कानों को एवं स्नायुओं को। उस 'देखने' में आप आत्म-संयम की सारी सीमाओं को लाँघ कर 'उपस्थित' रहते हैं। तब कोई भय और अंतर्विरोध के लिए जगह नहीं बचती। द्वंद्व और संघर्ष तब स्वतः समाप्त हो जाते हैं।

सजगता और एकाग्रता दोनों एक ही चीज़ नहीं हैं। उनमें गुणात्मक अंतर है। एकाग्रता में एक को छोड़कर बाकी सभी चीज़ों को निकालकर अलग कर दिया जाता है, जबकि सजगता का अर्थ है पूर्ण होश और ध्यान। सजगता में छोटी-सी-छोटी चीज़ भी सम्मिलित है। मुझे ऐसा देखने में आता है कि हममें से अधिकतर लोग सजग नहीं हैं— हम जो चर्चा कर रहे हैं केवल उसके प्रति नहीं बल्कि अपने समूचे परिवेश और वातावरण के प्रति, अपने चारों ओर फैले रंगों, लोगों, पेड़ों की आकृतियों, बादलों, जल के प्रवाह, इन सबके प्रति। इसका कारण शायद यह है कि हम स्वयं को लेकर ही इतने व्यस्त हैं—हम अपनी क्षुद्र और छोटी-छोटी समस्याओं में, अपने विचारों, धारणाओं, सुखों, महत्वाकांक्षाओं और खोजों में ही इस तरह खोये और मशगूल हैं कि हम ज़रा सजग होकर किसी वस्तु को देखें भी तो कैसे ! फिर भी सजगता के संबंध में चर्चा हम ढेर सारी किये चले जाते हैं। भारत में एक बार मैं एक कार में बैठकर कहीं जा रहा था। कार को ड्राइवर चला रहा था और मैं उसकी बगल में बैठा हुआ था। पिछली सीट पर तीन सज्जन बड़ी ही तल्लीनता और उत्सुकतापूर्वक सजगता के विषय पर चर्चा कर रहे थे और बार-बार मुझसे भी सजगता के संबंध में प्रश्न पूछ लिया करते थे। तभी दुर्भाग्यवश ड्राइवर का ध्यान कहीं और चला गया और कार एक बकरी को कुचलती और रौंदती हुई आगे बढ़ गयी। और वे तीनों सज्जन अभी भी पूर्ववत् सजगता पर बहस किये चले जा रहे थे, मानो कुछ हुआ ही न हो। वे इस घटना से बिलकुल बेखबर और अछूते ही रह गये कि वे अपने नीचे सड़क पर एक जिंदा बकरी को कुचलते हुए जा रहे हैं। सजग होने की कोशिश में लगे उन सज्जनों का ध्यान जब सजगता और होश की इस कमी की ओर दिलाया गया, तो आश्चर्य और विस्मय से वे अवाक् रह गये।

हममें से अधिकांश की हालत यही है। हम न बाहरी चीज़ों के प्रति सजग हैं न भीतरी चीज़ों के प्रति। अगर आप एक मक्खी, एक पक्षी या एक पत्ते के सौंदर्य को समझना चाहते हैं, या एक आदमी को

उसकी सारी जटिलताओं के साथ समझना चाहते हैं, तो आपको उस ओर अपना पूरा ध्यान देना पड़ता है। यही है सजगता। आप तभी अपना पूरा ध्यान अर्पित करते हैं जब आपके भीतर लगन और जिज्ञासा होती है, जिसका अर्थ हुआ कि समझने से आपको सचमुच प्रेम है। समझना आपके लिए एक प्यारा कृत्य है। तब आप अपने समूचे हृदय और मन से अपनी खोजबीन में लगे होते हैं।

ऐसी सजगता एक सर्प के साथ एक कमरे में बंद होकर जीने के समान है। तब आप अत्यंत सतर्क और सचेत होकर इसकी एक-एक गतिविधि का निरीक्षण करते हैं। वह हल्की-से-हल्की ध्वनि या फुफकार भी करता है तो इसके प्रति आप प्रचंड रूप से संवेदनशील और सजग रहते हैं। होश और ध्यान की ऐसी अवस्था ही समग्र ऊर्जा है। ऐसी सजगता होने पर स्वयं की समग्रता क्षण के भीतर ही प्रकट और उदघाटित हो जाती है—जैसे अचानक कोई बिजली कौंध जाये।

जब आप स्वयं को इतनी गहराई से देख लेंगे, तो आप और भी अधिक गहराई में जा सकते हैं। "और अधिक गहराई" शब्दों का प्रयोग हम तुलनात्मक अर्थों में नहीं कर रहे हैं। हालाँकि हम तुलनाओं की भाषा में ही सोचने-विचारने के आदी हैं—गहरा और उथला, सुखी और दुःखी। हम सदा नापने-जोखने में और तुलना करने में लगे रहते हैं। तो क्या सचमुच हमारे भीतर गहरी और उथली जैसी कोई अवस्था है? जब मैं कहता हूँ, "मेरा मन उथला, क्षुद्र, संकीर्ण और सीमित है" तो मुझे इन बातों का पता कैसे चलता है? क्योंकि मैंने अपने मन की तुलना आपके मन से कर रखी है जो अधिक तेज, बुद्धिमान, सक्षम और सतर्क है। तो अब प्रश्न यह उठता है कि क्या बिना किसी तुलना के मुझे अपनी क्षुद्रता का एहसास हो सकता है? जब मुझे भूख लगती है, तो मैं इस भूख की तुलना कल की भूख से तो नहीं करता, ताकि मुझे भूख का वास्तविक एहसास हो। कल की भूख तो अब मात्र एक स्मृति, एक विचार बनकर रह गयी है।

अगर मैं हर समय आपके विरुद्ध स्वयं को माप रहा हूँ, आपके सदृश होने के लिए संघर्ष कर रहा हूँ, तो मैं उससे मुकर रहा हूँ,

उसको नकार रहा हूँ जो मैं स्वयं हूँ। इस तरह तो मैं केवल एक भ्रम को ही निर्मित कर रहा हूँ। तुलना चाहे किसी भी रूप में हो, वह केवल बड़े-से-बड़े भ्रम और मुसीबत की ओर ही ले जाती है, वैसे ही जैसे मैं जब स्वयं का विश्लेषण करने लगता हूँ, स्वयं के बारे में अपने ज्ञान में थोड़ा-थोड़ा वृद्धि करने लगता हूँ, या स्वयं की पहचान और तादात्म्य अपने से बाहर की किसी चीज से करने लगता हूँ किसी राज्य और राष्ट्र से, किसी मुक्तिदाता से या किसी विचार-धारा से—तो ऐसी प्रक्रियाएँ मुझे घोर मानसिक दासता, गुलामी और गहन अंतर्द्वन्द्व की ओर ले जाती हैं। इस सबको बोधपूर्वक देखने और समझने के बाद मैं सदा-सदा के लिए इसको अपने से अलग कर देता हूँ। तब मेरा मन किसी तलाश और प्रयास की उधेड़बुन में नहीं लगा होता है। यह समझ लेना अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। तब मेरा मन अँधेरे में अब और अधिक टटोलना और भटकना बंद कर देता है। अब यह मन प्रश्नों और सवालों के ढेर पर नहीं खड़ा रहता। इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि मेरा मन तब यथास्थितिवादी हो जाता है, और चीजें जो जिस हाल में भी हैं उनसे संतुष्ट रहता है। बल्कि ऐसा मन अब कोई भ्रम नहीं पालता। ऐसा मन तब एक बिलकुल ही भिन्न आयाम में प्रवेश कर सकता है। सामान्यतः जिस आयाम में हम जीते हैं—दुःख, सुख और भय से निर्मित हमारा प्रतिदिन का यह जीवन - इसने हमारे मन को संस्कारबद्ध कर डाला है, मन के मूल स्वरूप को सीमित और मर्यादित कर रखा है। जब ये भय, दुःख और सुख (यह ख्याल रखें कि सुख आनंद से सर्वथा भिन्न चीज़ है) विदा हो जाते हैं, तब मन एक भिन्न आयाम में जीने और कार्य करने लगता है, जहाँ कोई द्वंद्व नहीं होता, जहाँ अन्यत्व अर्थात् 'दूसरे' का बोध नहीं होता।

शाब्दिक रूप से जहाँ तक हम जा सकते थे वहाँ तक हमने यात्रा कर ली है, इसके पार जो अब बच रहा है, उसे शब्दों में रखा नहीं जा सकता। क्योंकि शब्द तो 'वह' चीज नहीं है। यहाँ तक हम वर्णन और व्याख्या कर सकते थे और यह हम कर चुके, लेकिन शब्द और

व्याख्या द्वार नहीं खोल सकते। द्वार तो जो खोलेगा वह है प्रतिदिन की सजगता और होश। हम कैसे बोलते हैं, क्या कहते हैं, क्या सोचते-विचारते हैं, कैसे उठते-बैठते और चलते-फिरते हैं, इन सबों के प्रति होश और सजगता। यह एक कमरे को साफ-सुथरा और व्यवस्थित करने के समान है। कमरे का व्यवस्था और तरतीब में होना एक अर्थ में तो नितांत महत्त्वपूर्ण है, लेकिन दूसरे अर्थ में निहायत गैर-महत्त्वपूर्ण। कमरे में तरतीब और व्यवस्था तो होनी ही चाहिए, लेकिन व्यवस्था द्वार या झरोखा नहीं खोल सकती। द्वार तो जो खोलेगी वह आपके संकल्प और इच्छा से अछूती कोई और ही चीज है। आप संभवतः 'उसे' आमंत्रित नहीं कर सकते। आप अधिक-से-अधिक इतता ही कर सकते हैं कि कमरे को स्वच्छ और व्यवस्थित रखें—अर्थात् आप सद्गुणी हों सद्गुणों की खातिर, इसलिए नहीं कि इससे कुछ प्राप्त होगा। साथ-साथ आप विवेकपूर्ण, स्वस्थचित्त, सुव्यवस्थित हों। तव शायद, अगर आप भाग्यशाली हैं, तो झरोखा खुलेगा और स्वच्छ-शीतल हवा भीतर प्रवेश कर जायेगी। या नहीं भी कर सकती है। अंततः सब कुछ आपके मन की दशा पर निर्भर करता है। मन की इस दशाको समझेंगे तो आप ही न, इसके सतत निरीक्षण द्वारा, बिना कभी इसको किसी आकार में समेटने की कोशिश करते हुए, बिना कभी पक्ष लेते हुए, बिना कभी विरोध सह-मति, सहयोग, निंदा और फैसले के—जिसका अर्थ हुआ बिना किसी चुनाव के मन का निरीक्षण करते रहना। इसी चुनाव रहित सजगता से शायद कहीं द्वार खुले और आप जान पायें कि वह कौन-सा आयाम है जिसमें द्वंद्व और समय सदा के लिए मिट गये हैं।

चार

सुख की खोज—इच्छा—विचार द्वारा विकृति—स्मृति—आनंद

पिछले अध्याय में हमने कहा कि आनंद एक ऐसी चीज़ है जो सुख से सर्वथा भिन्न है। तो अब हम यह खोजबीन करें कि सुख के साथ कौन-सी बातें जुड़ी हुई हैं। क्या यह किसी प्रकार संभव है कि हम अपने भीतर एक ऐसे जगत में जियें जहाँ सुख का समावेश नहीं है, बल्कि हर्ष और उल्लास का, परम आनंद का एक प्रखर बोध है ?

हम सब किसी-न-किसी रूप में सुख की खोज में लगे हैं ऐन्द्रिय, बौद्धिक या सांस्कृतिक सुख। हज़ार तरीके हमने ईजाद कर लिये हैं इन सुखों को प्राप्त करने के · सुधारक होने का सुख, दूसरों को उपदेश, सीख और सुझाव देने का सुख, सामाजिक बुराइयों को बदलने का सुख, भला काम करने का सुख। और नहीं तो प्रकांड पंडित बनने का सुख, अत्यधिक शारीरिक और भौतिक संपन्नता और संतुष्टि का सुख, गूढ़तम अनुभूति का सुख, जीवन की गहनतम समझ का सुख— मतलब कि एक धूर्त दिमाग की हजार चालाकियों का सुख - और वह अंतिम सुख जो परमात्मा पाने का है, उसका तो खैर कहना ही क्या !

सुख की बुनियाद पर ही खड़ा है समाज का पूरा ढाँचा। बचपन से बुढ़ापे और मृत्यु तक हम चोरी-छिपे, चालाकी से या खुलेआम, सुख का सतत पीछा करते रहते हैं। हमें इसका स्पष्ट बोध होना चाहिए कि हम निजी तौर पर किस सुख के पीछे भाग रहे हैं, क्योंकि यही हमारे जीवन की दिशा और रूप-रेखा निर्धारित करता है। इसलिए हम सब के लिए यह आवश्यक है कि हम धैर्यपूर्वक, गहराई और बारीकी से सुख के इस सवाल की छानबीन और जाँच-पड़ताल करें। सुख को पाना और फिर इसे सबल और स्थायी बनाना जीवन की एक बुनियादी माँग है, और हक़ीकत यही है कि इसके बिना हमारा अस्तित्व सूना-सूना, बोझिल, फीका, नीरस और निरर्थक बन जाता है।

हमारा जीवन सुख से प्रेरित और मार्गदर्शित क्यों नहीं होना चाहिए ?—ऐसा आप पूछ सकते हैं। वह इसलिए नहीं होना चाहिए क्योंकि सुख कभी अकेला नहीं आता। वह अपने साथ-साथ संताप, दुःख, पीड़ा, कुंठा और भय को भी लिये आता है। भय भी अकेला नहीं बल्कि हिंसा को आमंत्रित करता हुआ आता है। फिर भी अगर आप इसी ढंग से जीना चाहते हैं तो जियें। सारा संसार इसी तरह जी रहा है। लेकिन अगर आप दुःख से मुक्त होना चाहते हैं, तब तो आपको सुख की पूरी संरचना को, पूरे ढाँचे को समझना ही पड़ेगा।

सुख को समझने का अर्थ इसको नकारना नहीं है। हम यहाँ सुख की निंदा नहीं कर रहे हैं, न ही यह निर्णय कर रहे हैं कि यह सही है या गलत। लेकिन अगर हम सुख का पीछा कर रहे हैं, तो हम यह काम अपनी खुली आँखों से करें, पूरे होशो-हवास में, यह जानते हुए कि जो मन हर समय सुख की खोज कर रहा है वह सुख की छाया अर्थात् दुःख को पाये विना नहीं रहेगा। उन्हें एक दूसरे से अलग किया ही नहीं जा सकता। और विडंबना यही है कि हम सुख के पीछे भागते हैं, और साथ-साथ दुःख से बचने की कोशिश भी करते हैं।

मन सदा सुख की माँग क्यों करता है ? ऐसा क्यों है कि हमारे भले-बुरे सभी कार्यों में कहीं-न कहीं सुख की ही चाह और खोज छिपी हुई है ? आखिर क्यों हमारे सारे त्याग-बलिदान और कष्ट-दुःखभोग सुख के धागे में ही पिरोये हुए हैं ? और यह सुख है क्या और इसका जन्म कैसे होता है ? पता नहीं, अगर आपमें से किसी ने स्वयं से इन प्रश्नों को पूछा है और अंत तक इनके उत्तरों की खोज की है !

चार चरणों से होकर सुख जन्म लेता है देखने की क्रिया, संवेदन, संपर्क और इच्छा। कल्पना कीजिए, आपने एक सुंदर-सी मोटर कार देखी। इसे देखने से तत्काल आपके भीतर एक संवेदन, एक प्रतिक्रिया होती है। तव आप इसे छूकर देखते हैं या आप अपनी कल्पना में ही इसको स्पर्श करने का प्रयास करते हैं। फिर आपके भीतर यह इच्छा पैदा होती है कि आप भी ऐसी कार के मालिक होते

और इसमें बैठ कर दुनिया को दिखाते फिरते। अथवा मैंने बादल के एक सुंदर और लुभावने टुकड़े को हवा में तैरते देखा, या आकाश की पृष्ठभूमि में खड़े एक प्रखर पर्वत को, या वसंत ऋतु में फूटी एक नयी-ताज़ा कोंपल और पल्लव को, या सुंदरता और भव्यता से भरी एक गहरी घाटी को, या अलौकिक सौंदर्य एवं महिमा से आच्छादित सूर्यास्त को, या प्रतिभा और प्रज्ञा से देदीप्यमान एक सुंदर और जीवंत चेहरे को जो स्व-चेतन और स्व-केन्द्रित नहीं है और इसीलिए जिसने अपनी आभा और अपना तेज नहीं खोया है। मैं इन चीज़ों को देखते हुए तीव्र आनंद और आह्लाद से भर जाता हूँ, और जब मैं इस तरह उन्हें देख रहा होता हूँ तो वहाँ 'देखनेवाला' नहीं बचता। जो बचा रह जाता है वह है निपट सौंदर्य-- अर्थात् प्रेम ! एक क्षण के लिए मैं अपनी सारी समस्याओं, चिंताओं और विपदाओं सहित विदा हो जाता हूँ, अनुपस्थित हो जाता हूँ—और बची रह जाती है सौंदर्य से सराबोर वह चीज़, वह दृश्य। अब या तो मैं इसे हर्ष और उल्लास से भर कर देखूँगा और अगले क्षण भूल जाऊँगा अन्यथा यहीं पर मन अपनी टाँग अड़ायेगा और समस्याएँ शुरु हो जायेंगी। मन ने जो कुछ अभी देखा है उस संबंध में सोच-विचार करेगा और कहेगा : वाह, कितना सुंदर था यह ! फिर मैं अपने को समझाऊँगा : अहा, कितना मज़ा आयेगा अगर मैं पुनः कई बार आकर इसे देखूँ ! यहीं पर विचार का हस्तक्षेप और इसकी हुकूमत शुरु हो जाती है। विचार तुलना करने लगता है, निर्णय करने लगता है और फिर कहता है : मैं कल पुनः इस अनुभव का आनंद लेना चाहूँगा। तो आपने देखा न, एक अनुभूति जो आपको एक क्षण के लिए सहज आनंद से भर गयी थी, कैसे विचार की चपेट में आजाती है, और तब विचार इस अनुभूति के सातत्य को बनाये रखना चाहता है।

कामवासना या अन्य प्रकार की इच्छा और वासना के साथ भी यही होता है। समस्या इच्छा से नहीं बल्कि किसी और चीज़ से पैदा होती है। इच्छा अपने आपमें कोई अस्वाभाविक चीज़ भी नहीं है। किसी चीज़ के प्रति हमारी प्रतिक्रिया का होना बिलकुल एक सहज

और स्वाभाविक घटना है। अगर आप मुझे सुई चुभोयेंगे तो मुझमें प्रतिक्रिया होगी ही बशर्ते कि मुझे लकवा न मार गया हो। आनंद की अनुभूति भी सूक्ष्म प्रतिक्रिया है, लेकिन तभी विचार आ टपकता है और अपनी करतूतों से आनंद को सुख में परिणत कर देता है। अर्थात् विचार उस अनुभूति को दोहराना चाहता है, और जितना अधिक आप दोहराते हैं उतना ही वह यांत्रिक हो जाता है। जितना अधिक आप उसके बारे में सोचते हैं उतना ही सुख को बल मिलता है। तो विचार ही इच्छा के माध्यम से सुख को पैदा करता है, इसका पालन-पोषण करता है एवं इसके सातत्य को कायम रखता है। इस तरह किसी सुंदर चीज़ के प्रति इच्छा की सहज प्रतिक्रिया विचार द्वारा विकृत हो जाती है। विचार उसे स्मृति में परिणत कर देता है। बार-बार चिंतन और स्मरण करने से इस स्मृति को और भी अधिक पोषण और बल मिलता जाता है।

निश्चय ही एक खास तल पर स्मृति का एक अपना स्थान है। हम अपने प्रतिदिन के जीवन में इसके बिना कुछ नहीं कर सकते। अपने क्षेत्र में स्मृति को निश्चय ही योग्य और सक्षम होना चाहिए। लेकिन मन की एक ऐसी भी अवस्था होती है जहाँ नाममात्र के लिए ही इसकी जगह रह जाती है। सच्ची स्वतंत्रता और मुक्ति तो उसी मन के पास है जो स्मृति के प्रहार से पंगु नहीं हो गया है।

क्या आपने कभी ध्यान दिया है कि जब आप किसी चीज़ का समग्रता से, अपने पूरे हृदय से सामना करते हैं तो वहाँ स्मृति केवल नहीं के बराबर ही बचती है? लेकिन जब आप किसी चुनौती का उत्तर अपने पूरे अस्तित्व और प्राणों से नहीं देते हैं तभी द्वंद्व और संघर्ष होता है, जो उलझन और सुख-दुःख को जन्म देता है। इसी संघर्ष से स्मृति की पैदाइश होती है। इस स्मृति में हर समय नयी-नयी स्मृतियाँ आकर जुड़ती रहती हैं। स्मृतियों के इस कुल जोड़ से ही हमारी सारी प्रतिक्रियाएँ, हमारे सारे उत्तर निकलते हैं। तो जो कुछ भी स्मृति का परिणाम है वह पुराना है और इसलिए वह स्वतंत्र

और मुक्त कदापि नहीं है। विचार की स्वतंत्रता जैसी कोई चीज़ होती ही नहीं। यह कोरी वकवास भर है।

विचार में कुछ भी तो नया नहीं है, क्योंकि विचार स्मृति, अनुभव और ज्ञान से आती हुई प्रतिक्रिया है। विचार स्वयं चूँकि अपने आपमें पुराना है इसलिए यह जिस चीज़ को भी छू देता है वह पुराना हो जाता है। आपने अतीव आनंद और आह्लाद से भर कर किसी मनोरम दृश्य या सुंदर चीज़ को देखा और आप प्रचंड अनुभूति से भर गये, लेकिन तभी विचार आता है और अपने स्पर्श से इस सब को पुराना कर जाता है। सुख आप पुराने से ही पाते हैं, नये से कदापि नहीं। नये का अर्थ है : समय जहाँ रुक गया है, विलुप्त हो गया है।

अतः अगर आप बिना सुख को आमंत्रित किये हुए देख सकते हैं—एक चेहरे को, एक पक्षी को, एक साड़ी के रंग को, जल की सतह पर झिलमिलाते हुए सूर्य की रुपहली किरणों के सौंदर्य को या आनंद से भर देने वाली किसी भी चीज़ को—और देखने के इन क्षणों में आपके भीतर कोई ऐसी चाह नहीं उठती कि मैं इसे भविष्य में पुनः देखूँ, वार-बार देखूँ, तो आपके लिए पीड़ा और भय का अस्तित्व मिट जाता है। केवल प्रखर आनंद शेष रह जाता है।

सुख को दोहराने के लिए, जिंदा रखने के लिए जो संघर्ष चलता है वही सुख को दुःख में बदल देता है। इसका निरीक्षण आप अपने भीतर कीजिए। सुख की पुनरावृत्ति की माँग ही दुःख का कारण बन जाती है, क्योंकि कल जो सुख मिला था, ज़रूरी नहीं कि आज भी वह सुख मिल ही जाये। जो प्रसन्नता और ख़ुशी पहले मिली थी, जो सौंदर्यबोध-सुख और मन की मस्ती पहले मिली थी, उसे पुनः प्राप्त करने के लिए आप संघर्षरत रहते हैं। लेकिन चूँकि वह आपको मिलता नहीं, इसलिए आप चोट खा कर निराश और दुःखी हो जाते हैं।

क्या आपने ध्यानपूर्वक देखा है कि जब आप किसी छोटे सुख से भी वंचित कर दिये जाते हैं, तो आप पर क्या गुजरती है? जो आप

चाहते हैं वह आपको जब नहीं मिलता, तो आप चिंता, घृणा और ईर्ष्या की आग में जलने लगते हैं। शायद आपने कभी ध्यान दिया हो, जब आपको शराब-सिगरेट आदि पीने का सुख, यौनसुख या ऐसा ही कोई अन्य सुख से वंचित कर दिया जाता है तो आपको अपने भीतर कैसी लड़ाइयों से गुजरना पड़ता है। क्या आपको नहीं लगता कि यह सब भय का ही एक रूप है ? भय उस बात का कि मैं जो चाहता हूँ वह कहीं मुझे न मिला तो ! या मेरे पास जो कुछ है अभी, वह कहीं मुझसे छिन न जाये। आप किसी खास धर्म या विचारधारा को वर्षों से गले लगाये बैठे थे और एक दिन जीवन की कोई घटना या कोई वजनी तर्क आपकी इस आस्था पर प्रहार कर इसको डाँवाडोल कर देता है या आपसे इसको तोड़ कर अलग कर देता है, तो क्या उस समय आप अकेले खड़े होने के भय से काँपने नहीं लगते हैं ? जिस आस्था और विश्वास ने वर्षों तक आपको तुष्टि और सुख प्रदान किया और जब वह आपसे छिन जाता है तो आपकी हालत असहाय और दीन-हीन जैसी हो जाती है। जब तक आप सुख का कोई दूसरा साधन नहीं खोज लेते, दूसरी आस्था और विश्वास नहीं खोज लेते, तब तक भय आपका पीछा नहीं छोड़ता।

मेरे देखे तो यह बिलकुल सीधा, साफ और सरल है। चूंकि यह बिलकुल ही सरल है इसलिए हम इसकी सरलता को देखने से इनकार करते हैं। हर चीज़ को जटिल बना देना हमारा स्वभाव है। अगर आपकी पत्नी आपको छोड़ कर किसी के साथ चली जाय तो क्या आप क्रोध और ईर्ष्या से जलने नहीं लगेंगे ? जिस आदमी ने उसे आकर्षित कर लिया है क्या उसके प्रति आप अदम्य घृणा से नहीं भर उठेंगे ? यह सब भय के सिवा आखिर है क्या ? आपके पास कुछ था जिससे आपको ढ़ेर सारा सुख मिलता था, संग-साथ मिलता था, जिसके कारण आपको एक तरह की निश्चितता और चैन था, मिल्कियत का मज़ा और रस था। भय है अब उसके छिन जाने का।

तो अगर आपने देख लिया है कि जहाँ सुख की तलाश होगी वहाँ दुःख रहेगा ही, और यह देखने के बावजूद अगर आप उसी ढंग से

जीना चाहते हैं तो आप जियेंगे ही लेकिन कम से कम इसमें अब आप अनजाने ही फिसलते हुए न चले जायें। अगर आप सुख को समाप्त करना चाहते हैं, जो वस्तुतः है दुःख को समाप्त करना, तो आपको सुख के संपूर्ण ढाँचे और इसकी संरचना के प्रति सजग और सचेत रहना होगा। आप ज़ोर-जबरदस्ती करके सुख को अपने से अलग नहीं कर सकते, जिसका प्रयास साधु-संन्यासी करते रहते हैं---वे औरतों की ओर नहीं देखेंगे, क्योंकि ऐसा करना वे पाप समझते हैं; और इस तरह वे अपनी समझ की जीवंतता की हत्या कर डालते हैं। इसके विपरीत, आपको सुख के पूरे मतलब और अभिप्राय को देखना और समझना होगा। तब आपके जीवन में हर्ष और आनंद की प्रचंड धारा बहने लगेगी। आप आनंद के संबंध में सोच-विचार नहीं सकते। आनंद एक 'तत्क्षण' वस्तु है। जहाँ आपने इस पर सोचना-विचारना शुरू किया वह सुख में परिणत हो जाता है। वर्तमान में जीना सौंदर्य का तत्काल दर्शन करना है, और इसमें सुख न खोजने का अर्थ है असीम आनंद के सागर में गोते लगाना।

पाँच

आत्म-चिंता—पद की लिप्सा—अनेक भय और समग्र भय—विचार द्वारा विखडंन भय का अंत

इससे पहले कि हम और आगे बढ़ें, मैं आपसे पूछना चाहूँगा, जीवन में आपकी स्थायी और सर्वाधिक दिलचस्पी किस बात में है ? आपकी दिलचस्पी का मूल विषय कौन-सा है ? घुमा-फिरा कर उत्तर देने के बजाय इस प्रश्न का सीधा-सीधा और ईमानदारी भरा उत्तर क्या हो सकता है ? क्या आप जानते हैं ?

आपकी सबसे अधिक दिलचस्पी क्या स्वयं में ही नहीं है ? हाँ ! और यही उत्तर हममें में अधिकांश लोगों का होगा, यदि हम सच-सच बोलें तो। मेरी सारी दिलचस्पी का विषय है मेरी प्रगति, मेरी नौकरी, मेरा परिवार अर्थात् मेरी दिलचस्पी केन्द्रित है जिसमें मैं जी रहा हूँ उस छोटे-से कोने में–अपने लिए बेहतर ओहदा और पद, अधिक से अधिक प्रतिष्ठा और शक्ति, दूसरों पर ज़्यादा से ज़्यादा दबदबा और अधिकार एवं इसी तरह की अन्य बातें जिससे मेरा महत्त्व बढ़ता हो। यह कितनी ईमानदारी और समझदारी का सबूत होगा अगर हम अपने भीतर यह बात कबूल करें कि बुनियादी रूप से हमारी दिलचस्पी जिस बात में है वह है—हर चीज़ में सबसे पहले 'मैं' !

अब हममें से कुछ लोग कहेंगे कि सबसे पहले अपनी ही चिंता और फिक्र करना तो बिलकुल गलत बात है। लेकिन इसमें गलत क्या है, सिवा इसके कि हम शायद ही कभी ईमानदारी और विनम्रतापूर्वक यह बात स्वीकार करते हैं। अगर स्वीकार करते भी हैं तो इस कारण खुद को शर्मिन्दा और लज्जित महसूस करते हैं। हक़ीकत यह है कि मौलिक रूप से आदमी का झुकाव और दिलदस्पी खुद अपने आप में है, और विभिन्न विचारधाराओं और परंपराओं के प्रभावों के कारण

वह सोचता है कि यह बात गलत है। लेकिन उसके सोचने से होता क्या है ? और यह गलत है, ऐसी बात ही क्यों उठानी ? क्योंकि यह महज एक विचार, एक धारणा है। और तथ्य और हक़ीकत तो यह है कि आदमी की पहली और अंतिम दिलचस्पी स्वयं से शुरू होती है और स्वयं पर जाकर समाप्त हो जाती है।

भले ही आप यह कहें कि अपनी फिक्र करने से कहीं ज्यादा संतोष मिलता है दूसरे की मदद करने में। लेकिन फर्क क्या पड़ा ? यह भी तो अपनी ही फिक्र हुई। अगर आपको दूसरों की मदद करने में अधिक संतोष मिलता है, तो आपको मतलब तो इससे हुआ कि अधिक से अधिक संतोष आपको कहाँ से और कैसे मिलेगा। इस सीधी-सरल बात में कोई सैद्धांतिक विचार क्यों घुसेड़ना ? आखिर यह दोतरफा चिंतन क्यों ? साफ-साफ क्यों नहीं कहना, "वस्तुतः जो मैं चाहता हूँ वह है संतुष्टि और तृप्ति, चाहे यह काम-वासना में मिले या दूसरों की सहायता करने में या एक महान संत-महात्मा, वैज्ञानिक या राजनीतिज्ञ बन जाने में !" यह सब की सब एक ही प्रक्रिया हैं। क्या नहीं हैं ? तो हम जो चाहते हैं वह है : हर संभव रास्ते से—सूक्ष्म या स्पष्ट—संतुष्टि और तृप्ति की प्राप्ति। जब हम कहते हैं कि हमें मुक्ति चाहिए, तो मुक्ति की इस आकांक्षा के पीछे भी हमारी यही कल्पना काम करती है कि मुक्ति आश्चर्यजनक रूप से संतुष्टि और तृप्ति हमें देगी। और इससे भी बढ़कर, चरम और अंतिम तृप्ति का साधन हमने बना रखा है 'आत्मज्ञान' की सुनी-सुनायी धारणा को। वस्तुतः संतुष्टि के एक ऐसे साधन की हम तलाश कर रहे हैं जो हमारे सारे असंतोष और अतृप्ति को खत्म कर दे।

हममें से अधिकांश लोग समाज में अपने लिए एक विशिष्ट स्थान और हैसियत पाने की तुष्टि के लिए लालायित रहते हैं, क्योंकि हमें यह डर लगा रहता है कि कहीं हम मामूली और अदने लोगों में से ही न रह जायें। समाज की बनावट ऐसी है कि यहाँ जिसे प्रतिष्ठा का पद प्राप्त है उसके साथ तो अत्यधिक शिष्टाचार के साथ बरताव किया जाता है, जबकि बिना किसी हैसियत वाले आदमी को हर

जगह लतियाया जाता है। संसार में प्रत्येक व्यक्ति पद चाहता है—यह पद चाहे समाज में मिले, परिवार में मिले, अथवा यह परमेश्वर की दाहिनी ओर बैठने का पद हो। अर्थात् पद ऐसा हो जो दूसरों की नज़र में कुछ महत्त्व रखता हो, नहीं तो यह पद किस काम का! मंच पर सब कोई बैठना चाहता है, ज़मीन पर कोई नहीं! अंदर से तो हम एक निकृष्ट और दयनीय आदमी हैं, इसलिए बाहर से एक महान और विशिष्ट व्यक्ति के रूप में इज़्ज़त पाने पर हमें बड़ा सुख और संतोष मिलता है। समाज में विशिष्टता और प्रमुखता का दर्जा और मान्यता पाने हेतु हमारी पद-प्रतिष्ठा और शक्ति की लिप्सा के पीछे दूसरों पर रोब जमाने की ही हमारी आकांक्षा है। रोबदाब रखने का यह खयाल आक्रमण और हिंसा का ही एक रूप है। संत और महात्मा की पदवी पाने के लिए प्रयत्नशील साधु-संन्यासी उतने ही आक्रामक हैं जितने बाड़े के अंदर चोंच मारते हुए मुरगी के चूजे। इस आक्रामकता के पीछे कारण कौन-सा है? कारण भय है। क्या नहीं है?

भय जीवन की बड़ी से बड़ी समस्याओं में से एक है। भय में जकड़ा हुआ मन द्वंद्व और उलझन में जीता है और इसलिए यह हिंसक, विकृत और आक्रामक होता है। यह अपने सोच-विचार के ढर्रे और ढाँचें से बाहर निकलने की हिम्मत नहीं जुटा पाता, इसलिए इसे पाखंड और ढोंग का सहारा लेना पड़ता है। जब तक हम भय से मुक्त नहीं हो जाते तब तक भले ही हम ऊँचे से ऊँचे पर्वत-शिखर पर चढ़ जायें, हर तरह के ईश्वर का आविष्कार कर लें—लेकिन हम अँधेरे में ही भटकते रहेंगे।

ऐसे भ्रष्ट और चौपट समाज में हमारा जीना, भय पैदा करनेवाली प्रतियोगिता पर आधारित शिक्षा से हमारा संस्कारित होते रहना, इत्यादि अनेक कारणों से हम सब किसी न किसी प्रकार के भय से सर्वदा ग्रस्त रहते हैं। और भय एक ऐसी भयावह वस्तु है जिसके कारण हम टूटकर मुरझाये हुए और बुझे हुए-से दिन बिताने पर मजबूर रहते हैं।

शारीरिक भय की बात कुछ और है, जो एक ऐसी प्रतिक्रिया है जिसे हमने पशुओं से विरासत में पायी है। यहाँ हम मनोवैज्ञानिक भय की बात कर रहे हैं। क्योंकि जब हम गहराई में जड़ जमाये हुए सारे के सारे मनोवैज्ञानिक भय को समझ लेंगे, तो हम पाशविक (शारीरिक) भय का भी सामना कर सकेंगे। अगर हम पहले पाशविक भय को ही सुलझाने लगें तो इससे हमें मनोवैज्ञानिक भय को समझने में जरा भी सहायता नहीं मिलेगी।

हम सब किसी न किसी चीज़ से भयभीत रहते हैं। भय अपने आपमें कोई निरपेक्ष वस्तु नहीं है, यह हमेशा किसी न किसी चीज़ से जुड़ा है। क्या आपको पता है कि आपको स्वयं किन बातों का भय है—नौकरी चले जाने का, पर्याप्त भोजन और रुपया-पैसा न जुटा पाने का, जनता या आपके पड़ोसी आपके बारे में क्या सोचते हैं उसका, जीवन में सफल न हो पाने का, समाज में अपनी हैसियत गँवा बैठने का, लोगों के उपहास और उपेक्षा का पात्र बन जाने का, शारीरिक पीड़ा और बीमारी का, अपने ऊपर दूसरों के रोब और दबदबे का, कभी प्रेम न जान पाने का या किसी का प्रेम न पा सकने का, अपनी पत्नी और बच्चे खो देने का, मृत्यु का, मृत्युतुल्य इस संसार में जीने का, भीषण ऊब महसूस करने का, दूसरों की दृष्टि में आपकी जो प्रतिमा है उसके अनुरूप आचरण और व्यवहार न करने का, अपनी धार्मिक आस्था और विश्वास खो देने का—इस सब के अतिरिक्त भी अन्य अनेक भय। तो क्या आपके अपने जो खास भय हैं आप उनसे अवगत हैं ? यदि हाँ, तो इस संबंध में आमतौर से आप करते क्या हैं ? आप भाग खड़े होते हैं उनसे, या उन्हें ढकने और छिपाने के लिए धारणाएँ और प्रतिमाएँ बना लेते हैं। लेकिन भय से भागना भय को बढ़ाने का ही एक उपाय है।

भय के मुख्य कारणों में से एक यह है कि हम जैसे हैं वैसे ही उसका सामना करना नहीं चाहते। अतः भय के साथ-साथ हमें पलायनों के उस जाल की भी जाँच-पड़ताल करनी होगी जिसे हमने भय

से अपना पिंड छुड़ाने के लिए बुन रखा है। मन—मस्तिष्क जिसमें सन्निहित और समाविष्ट है—जब प्रयास करता है भय पर किसी न किसी तरह विजय पाने का, उसका दमन करने का, उसे अनुशासित एवं नियंत्रित करने का या भिन्न नामों से पुकारकर उसकी व्याख्या करने का, तभी द्वंद्व और संघर्ष पैदा होता है। और यह द्वंद्व और संघर्ष महज हमारी ऊर्जा की बरबादी है।

तब, सर्वप्रथम हमें स्वयं से यह पूछना होगा : भय क्या है और यह कैसे उत्पन्न होता है? 'भय' शब्दमात्र से हम क्या समझते हैं? मैं स्वयं से यह पूछ रहा हूँ कि भय अपने आपमें क्या है—यह नहीं कि मुझे किस बात का भय है।

मैं एक निश्चित तरह का जीवन बिताता हूँ, एक निश्चित ढंग और ढर्रे पर ही मैं सोचता-समझता हूँ, कुछ निश्चित धार्मिक विश्वास और मत मैंने पाल रखे हैं और मैं नहीं चाहता कि मिलजुलकर तैयार इस ढाँचे को कोई छुए तक भी, क्योंकि इसमें मेरे अस्तित्व की जड़ें फैली हुई हैं। मैं किसी हालत में नहीं चाहूँगा कि इस ढाँचे के भीतर कोई खलल पैदा करे, क्योंकि इस ढाँचे के हिलने-डुलने से भी मैं अज्ञात की आशंका से काँपने लगता हूँ जो मुझे बिलकुल पसंद नहीं। मैं अपनी जानकारियों और विश्वासों की जिस छोटी-सी परिधि में जी रहा हूँ उससे अगर मुझे कोई जड़ समेत उखाड़कर बाहर लाना चाहता है, तो सबसे पहले मैं तर्क-वितर्क करके यह निश्चित कर लेना चाहता हूँ कि मैं ज्ञात की दुनिया छोड़कर किस दुनिया में कदम रखने जा रहा हूँ। तो इस तरह आपने देखा न, मन के भीतर मस्तिष्क की कोशिकाओं के सहयोग से एक ढाँचा बनकर तैयार हो जाता है और मस्तिष्क की वे कोशिकाएँ पहले ढाँचे को तोड़कर फिर से कोई ऐसा ढाँचा नहीं बनाना चाहतीं जिसके बारे में कुछ भी निश्चित नहीं है। इस तरह जिसे भय कहा जाता है वह निश्चितता से अनिश्चितता की ओर जाने की घटना मात्र है।

इस वास्तविक क्षण में जब कि मैं यहाँ बैठा हुआ हूँ, मैं जरा भी भयभीत नहीं हूँ। वर्तमान में जीने पर मुझे भय होता भी नहीं—मुझपर कुछ बीत नहीं रहा है, कोई मुझे डरा-धमका नहीं रहा है या मुझसे कुछ छीन कर नहीं ले जा रहा। लेकिन इस वास्तविक (वर्तमान) क्षण के बाहर आते ही एक ऐसा क्षेत्र आरंभ हो जाता है जिसमें मन के एक गहरे तल का अस्तित्व कार्यरत है, जो चेतन या अचेतन रूप से इस सोच-विचार और आशंका में डूबा है कि भविष्य में पता नहीं क्या होनेवाला है या इस चिंता से ग्रस्त है कि कहीं अतीत का ही कोई कहर न मुझपर टूट पड़े। तो मैं अतीत से भयभीत हूँ और भविष्य से भी। मैंने समय को अतीत और भविष्य में बाँट रखा है। और विचार उठ खड़ा होता है और कहता है, "सावधान रहो, कल जो हुआ वह फिर न होने पाये। भविष्य के लिए तैयार रहो। भविष्य तुम्हारे लिए खतरनाक साबित हो सकता है। तुम्हारे पास जो कुछ है अभी, उसे तुम कही गँवा न बैठो। क्या पता, कल तुम अपनी नौकरी से हाथ धो बैठो, तुम्हारी पत्नी किसी और की हो जाये या कल तुम्हारी कहीं मृत्यु हो जाये। ऐसा भी हो सकता है कि तुम जीवन में कभी प्रसिद्धि न पा सको या आनेवाले दिनों में तुम बिलकुल अकेले पड़ जाओ। इसलिए जहाँ तक संभव हो कल के बारे में सब कुछ पक्का तय करके रखो।"

अब आपका अपना जो खास तरह का भय है, उसे ही लीजिए। उसे देखिए। इस पर जो प्रतिक्रिया आपके भीतर उठे उसका भी निरीक्षण कीजिये। क्या आप इसको बिना किसी पलायन, दमन, औचित्य, समर्थन या निंदा के देख सकते हैं ? वह शब्दमात्र जो आपके भीतर भय पैदा करता है, क्या आप उस शब्द को परे हटाते हुए अपने भय को उसके मूल रूप में देख सकते हैं ? उदाहरण के लिए, क्या आप मृत्यु के भय को देख सकते हैं, बिना उस मृत्यु के शब्द के जो आपमें भय की कँपकँपी पैदा करता है ? क्या 'मृत्यु' शब्द स्वयं ही एक सिहरन पैदा नहीं करता, जैसे 'प्रेम' शब्दमात्र से ही हमारे भीतर एक सनसनी-सी फैल जाती है, एक प्रतिमा निर्मित हो जाती है। आपने

कई सृत्यु देखी होंगी जिनकी स्मृति आपमें बैठी है। मृत्यु की उन घटनाओं से आपने स्वयं का संबंध भी जोड़ा होगा— इस सब से आपके दिमाग में मृत्यु की जो एक तसवीर, एक प्रतिमा निर्मित हो गयी है क्या वही तो कहीं भय पैदा नहीं कर रही है आपमें ? अथवा, क्या सच यह है कि आप स्वयं निकट आती हुई अपनी समाप्ति यानी अपने अंत को लेकर भयभीत हैं—न कि मृत्यु की प्रतिमा का कोई हाथ है भय पैदा करने में ? तो क्या यह 'मृत्यु' शब्द ही आपके भय का कारण है या आपके एक दिन खत्म हो जाने, मिट जाने की वास्तविकता आपके भय का कारण है ? अगर यह शब्द या स्मृति ही आपके भय का कारण है, तो इसे भय कहना ही व्यर्थ है।

मान लीजिए, दो वर्ष पूर्व आप बीमार थे और उस बीमारी और पीड़ा की स्मृति अभी तक बनी हुई है। यह स्मृति, जो अभी सक्रिय है, कहती है, "सावधानी बरतो ताकि पुनः बीमार न पड़ जाओ।" तो यह स्मृति अतीत के साथ अपने संबंधों के सहारे भय पैदा कर रही है। यह भय बिलकुल निर्मूल और निराधार है, क्योंकि अभी आप सामान्य रूप से स्वस्थ और भले-चंगे हैं और दूर-दूर तक बीमारी से आपका कोई संबंध नहीं है। विचार अपने आपमें पुराना है क्योंकि यह स्मृति की प्रतिक्रिया है। स्मृतियाँ सदा पुरानी ही होती हैं। विचार समय के माध्यम से यह अनुभूति-भ्रम पैदा करता है कि आप भयभीत हैं, जो हक़ीकत नहीं है। हक़ीकत तो यह है कि आप बिलकुल ठीक हैं। लेकिन पिछली बीमारी का अनुभव जो दिमाग में इतने दिनों से स्मृति के रूप में संजोया पड़ा है, विचार को यह कहते हुए जगाता है, "सावधान रहो, कहीं फिर न बीमार हो जाओ।"

इस तरह हम देखते हैं कि विचार ही भय उत्पन्न करता है। लेकिन इससे पृथक् क्या भय का कोई स्वतंत्र अस्तित्व भी है ? क्या भय हमेशा विचार का ही नतीजा और परिणाम है ? यदि हाँ, तो क्या भय का कोई और रूप भी हो सकता है ? हम मृत्यु से भयभीत हैं, जिसका अर्थ है कल या परसों, एक न एक दिन कुछ होने जा रहा है।

वह 'जो वस्तुतः है अभी' और वह 'जो होगा कभी' के वीच एक फासला है, दूरी है। अभी जो वस्तुतः है उससे विचार परिचित है और जब यह मृत्यु की किसी घटना को देखता है तो बोल पड़ता है, "मैं भी तो एक दिन मरने जा रहा हूँ!" तो मृत्यु का भय विचार द्वारा पैदा किया हुआ है। अगर विचार अपना शोरगुल और उछलकूद बंद कर दे, मौन और चुप्पी साध ले, तब क्या भय का कोई भी अस्तित्व हो सकता है?

क्या भय विचार का ही नतीजा है? यदि हाँ, तो चूँकि विचार सदा पुराना होता है इसलिए भय भी सदा पुराना है। जैसा हमने कहा है, कोई नया विचार होता ही नहीं—क्योंकि हर विचार पहचाना जा सकता है, इसलिए स्वभावतः यह पुराना है। इसलिए हम जिससे भयभीत हैं वह पुराने की ही पुनरावृत्ति है अर्थात् जो घटित हो चुका है उसकी पुनः संभावना का विचार द्वारा भविष्य में प्रक्षेपण। इसलिए भय के लिए विचार ही सीधे रूप से ज़िम्मेदार है। बात ऐसी ही है, इसे आप स्वयं देख सकते हैं। अचानक जब किसी ख़तरे से आपका सामना हो जाता है तो तत्काल वहाँ कोई भय नहीं होता। लेकिन ज्यों ही विचार टपक पड़ता है भय शुरू हो जाता है।

इसलिए हमारे सामने प्रश्न अब यह है कि क्या मन के लिए संपूर्ण रूप से, समग्र रूप से वर्तमान में जीना संभव है? क्योंकि केवल ऐसा मन ही भय से मुक्त रह सकता है। लेकिन इसको ठीक-ठीक समझने के लिए आपको विचार, स्मृति और समय के पूरे ढाँचे और उनके आपसी तालमेल को समझना पड़ेगा। अगर आपकी यह समझ केवल बौद्धिक और शाब्दिक नहीं है बल्कि वास्तविक है यानी पूरे मन, हृदय और प्राणों के साथ है, तो फिर आप भय से मुक्त हो जायेंगे। तब मन विचार का उपयोग मात्र करता है। ऐसे मन को विचारजन्य भय नहीं व्यापता।

निश्चय ही स्मृति की तरह विचार के बिना भी हमारा प्रतिदिन का जीना संभव नहीं है। हमारे आपसी संवाद के लिए, नौकरी और

अन्य सभी कार्यों को करने के लिए विचार हमारा सबसे मौलिक एवं महत्त्वपूर्ण औज़ार है। विचार स्मृति की प्रतिक्रिया है—वह स्मृति जो अनुभव, ज्ञान, परंपरा और समय के सहारे संचित की गयी है। स्मृति की इसी पृष्ठभूमि से हम प्रतिक्रिया करते हैं, और यह प्रतिक्रिया हमारा सोच-विचार और चिंतन है। कुछ निश्चित तलों पर तो विचार अत्यंत आवश्यक है। लेकिन जब विचार अपने आपको मनोवैज्ञानिक तल पर अतीत और भविष्य के रूप में प्रक्षेपित करने लगता है—कभी भय और कभी सुख की सृष्टि करते हुए—तो इससे मन मंद, संवेदनशून्य और जड़ बन जाता है, और तब गहरे तल पर निष्क्रियता और अकर्मण्यता अवश्यम्भावी है।

इसलिए मैं स्वयं से पूछ रहा हूँ, "आखिर क्यों, क्यों, क्यों सुख और दुःख की सृष्टि करता हुआ मेरा सारा चिंतन और सोच-विचार अतीत और भविष्य के दो छोरों से बँधा हुआ है, जबकि मैं जानता हूँ कि ऐसा ही चिंतन और सोच-विचार भय पैदा करता है?" तो क्या यह संभव नहीं है कि मनोवैज्ञानिक रूप से विचार बंद हो जाये? अन्यथा भय का कभी अंत नहीं होगा।

विचार के मूलभूत कार्यों में से एक यह है कि वह हर समय स्वयं को कुछ न कुछ के साथ बाँधे रखता है, व्यस्त रखता है। हममें से अधिकांश लोग अपने मन को निरंतर व्यस्त रखना चाहते हैं ताकि वस्तुतः हम जो हैं, जैसे हैं, उसे देखने से बचे रहें। खाली रहने पर हमें भय लगता है। और तो और, हमें अपने भय को देखने से भी भय लगता है।

चेतन रूप से आप अपने भय से अवगत हो सकते हैं, लेकिन अपने मन के गहरे तलों पर क्या आप उनसे परिचित हैं? और वे भय जो गुप्त रूप से छिपे हुए हैं, उनका पता आप कैसे लगायेंगे? क्या भय को 'चेतन' और 'अवचेतन' के रूप में बाँटा जाना चाहिए? यह अत्यंत महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। विशेषज्ञों, मनोवैज्ञानिकों और मनोविश्लेषकों ने भय का वर्गीकरण कर डाला है। उनके अनुसार कुछ भय तो चेतना के

ऊपरी तल पर विद्यमान रहते हैं और कुछ गहरे तलों में जड़ जमाये बैठे रहते हैं। लेकिन अगर आप मनोवैज्ञानिकों की या मेरी ही सुनते रहे, तो आप हमारे सिद्धान्तों, मतों और ज्ञान से तो परिचित हो जायेंगे, लेकिन स्वयं को नहीं समझ पायेंगे। आप फ्रॉयड़, युंग या मेरे अनुसार अपने को नहीं समझ सकते। दूसरे लोगों के सिद्धांतों और मान्यताओं का तनिक भी महत्त्व नहीं है। यह आपके महत्त्व और ज़िम्मेदारी की चीज़ है कि आप यह पता लगायें कि क्या 'चेतन' और 'अवचेतन' के रूप में भय का वर्गीकरण करना जरूरी है ? या सच यह है कि भय एक ही है, रूप भले उसके जितने भी हों ? जैसे सभी इच्छाओं की प्रक्रिया और अनुभूति तो एक ही है—इच्छा करना। इच्छा की वस्तुएँ बदल सकती हैं, भिन्न-भिन्न हो सकती हैं लेकिन इच्छा स्वभावगत रूप से तो अकेली है, एक ही है। इसी तरह शायद भय का अस्तित्व भी अकेला है। आपको हज़ार बातों का भय हो सकता है, लेकिन भय अपने आप में एक ही है।

जब आपको यह स्पष्ट बोध हो जाता है कि भय को श्रेणियों और खंडों में विभाजित नहीं किया जा सकता है तो आप 'अवचेतन' को पूरी तरह नकार देते हैं और इस तरह मनोवैज्ञानिकों और मनोविश्लेषकों को अंगूठा दिखा देते हैं, धता बता देते हैं। जब आप यह समझ लेते हैं कि भय एक ही प्रक्रिया और गति है जो स्वयं को भिन्न-भिन्न ढंगों से व्यक्त करती है, जब आपका सारा ध्यान गति पर केन्द्रित हो जाता है न कि गति की दिशा और उसके लक्ष्य पर, तब आपके सामने एक बहुत बड़ा प्रश्न खड़ा होता है : आप इस गति को बिना खंडित किये हुए ज्यों का त्यों कैसे देख सकते हैं ? क्योंकि मन की आदत हर चीज़ को खंडों में बाँट देने की है।

हमारे सामने अब अनेक भय नहीं बल्कि एक समग्र भय का चित्र उपस्थित है। लेकिन प्रश्न यह है कि मन, जो खंडों में ही सोचता है, इस समग्र चित्र को 'एक साथ' अपनी दृष्टि में कैसे ले सकता है ? क्या यह ले पायेगा ? हमने अब तक खंडों में ही बँटा जीवन जिया है

इसलिए संभावना यही है कि हम इस समग्र भय को भी विचार की विखंडनकारी प्रक्रिया के सहारे ही देख पायें। विचारसरणी की पूरी प्रक्रिया ही ऐसी है कि यह प्रत्येक चीज़ को खंडों में तोड़ देती है : मुझे आपसे प्रेम है·········और तुमसे मुझे घृणा है; तुम मेरे शत्रु हो·········आप मेरे मित्र हैं; मेरे खास तौर-तरीके, रुझान और झुकाव, मेरी नौकरी, मेरा पद, मेरी प्रतिष्ठा, मेरी पत्नी, मेरे बाल-बच्चे, मेरा देश और तुम्हारा देश, मेरा ईश्वर और तुम्हारा ईश्वर—यह सब विखंडन विचार द्वारा किया हुआ है। यही विचार जब भय की समग्र स्थिति को देखता है या देखने का प्रयास करता है तो इसे खंडों में तोड़कर रख देता है। इस तरह हम देखते हैं कि मन इस समग्र भय को तभी देख सकता है जब विचार का आवागमन न हो।

क्या आप बिना किसी निर्णय-निष्कर्ष के, बिना उस ज्ञान के हस्त-क्षेप के जिसे आपने भय के बारे में संग्रह किया हुआ है—इस सब के बिना क्या आप भय का निरीक्षण कर सकते हैं ? अगर नहीं, तो आप जिसका निरीक्षण कर रहे हैं वह अतीत है, भय नहीं। अगर हाँ, तो जीवन में पहली दफा आप अतीत के हस्तक्षेप के बिना भय का निरीक्षण कर रहे हैं।

निरीक्षण करना तभी संभव है जब मन शांत और स्थिर हो, ठीक उसी तरह जैसे कोई व्यक्ति क्या कह रहा है, उसे आप ठीक-ठीक तभी सुन सकते हैं जब आपका मन अपने साथ ही बकबक-बड़बड़ नही कर रहा है, जब वह अपनी चिंताओं और समस्याओं को लेकर ही अपने साथ बातचीत में मशगूल नहीं है। इसी प्रकार क्या आप अपने भय को भी देख सकते हैं, बिना इसको खत्म करने का प्रयास करते हुए, बिना इसके विपरीत साहस लाने की जबरदस्ती करते हुए—बल्कि वस्तुतः इसको सीधा-सीधा देखना और इससे पलायन करने का प्रयास न करना। जब आप कहते हैं, "मुझे भय को नियंत्रित करना ही है, मैं इससे छुटकारा पाकर रहूँगा, मुझे इसे समझना ही पड़ेगा", तो शायद आपको पता भी न हो कि आप इससे पलायन करने की जी-तोड़ कोशिश में लगे हैं।

संभवतः आप बिना किसी विशेष कठिनाई के बादल के एक टुकड़े को, एक पेड़ को या नदी के प्रवाह को पर्याप्त शांतचित्त होकर देख सकते हैं, क्योंकि वे आपके हिस्से नहीं हैं। लेकिन स्वयं को ही देख पाना उससे कहीं अधिक मुश्किल है, क्योंकि वहाँ आवश्यकताएँ अत्यंत व्यावहारिक हैं और आपकी प्रतिक्रियाएँ उतनी ही तेज और तत्पर। तो जब कभी आप भय, निराशा, अकेलापन, ईर्ष्या या मन की ऐसी ही कोई अन्य कुरूप दशा के सीधे संपर्क में हों, उस समय क्या आप इतनी पूर्णता और तन्मयता के साथ इसको देख सकते हैं कि देखता हुआ आपका मन बिलकुल मौन, शांत और स्थिर हो जाये ?

क्या मन भय के विभिन्न रूपों का नहीं बल्कि स्वयं भय का दर्शन कर सकता है ? क्या मन भय के कारणों का नही बल्कि समग्र भय का बोध और प्रतीति कर सकता है ? अगर आप भय के ब्यौरे को ही देखते-समझते रहेंगे या अपने सारे भय से एक-एक कर निपटने का प्रयास करेंगे, तो आप भय के साथ क्षण-क्षण जीने की कला कभी नहीं सीख पायेंगे। और यही सबसे बहुमूल्य बात है। यही असली मुद्दा है।

भय जैसी जीवित चीज़ के साथ जीने के लिए ऐसे मन और हृदय की आवश्यकता है जो असाधारण रूप से सूक्ष्म और संवेदनशील है, जो किसी निर्णय-निष्कर्ष से बँधा नहीं है और जो भय की प्रत्येक गतिविधि का पीछा कर सकता है। अगर आप भय का निरीक्षण करते हुए इसके साथ जीते हैं······आप यह न समझ लें कि यह काम सुबह से शाम तक बैठकर करना है। भय की पूरी प्रकृति एक मिनट क्या, एक सेकंड के भीतर देखी और समझी जा सकती है—बिजली की एक कौंध की तरह। अगर आप भय के साथ इतनी पूर्णता से जीते हैं, तो अनिवार्य रूप से आप यह प्रश्न पूछेंगे, "यह कौन-सी हस्ती है जो भय के साथ जी रही है ? यह कौन है जो भय को देख रहा है, जो विभिन्न प्रकार के भय की एक-एक गतिविधि का निरीक्षण कर रहा है, साथ ही साथ जो भय के केन्द्रीय तथ्य के प्रति भी सजग और सचेत है ? क्या यह 'देखनेवाला' एक मरी हुई हस्ती है, एक स्थिर सत्ता है

जिसने अपने बारे में ढेर सारा ज्ञान और बहुत सारी जानकारी इकट्ठी कर ली है ? क्या यह मरी हुई वस्तु ही भय की गतिविधि का निरीक्षण करते हुए इसके साथ जी रही है ? यह देखने और निरीक्षण करनेवाला अतीत की एक लाश है या एक सर्वथा जीवित चीज़ है ?" आपका क्या उत्तर है ? मुझे उत्तर नहीं दें, स्वयं को ही उत्तर दें। क्या आप अर्थात् 'देखनेवाला' एक मृत सत्ता है जो एक जीवित चीज़ का निरीक्षण कर रहा है या एक जीवित चीज़ का निरीक्षण करते हुए आप स्वयं भी एक जीवित चीज़ हैं ? क्योंकि 'देखनेवाला' में दोनों स्थितियों की संभावनाएँ हैं।

यह 'देखनेवाला' एक साक्षी या द्रष्टा है जो भय का शिकार होना नहीं चाहता। यह द्रष्टा भय के बारे में अपने सारे अनुभवों का ज्ञाता वना बैठा है। इस तरह यह द्रष्टा स्वयं को उससे अलग समझता है जिसे यह भय कहता है। स्वयं के और भय के बीच इसने एक अवकाश, एक दूरी पैदा कर ली है जिससे यह हर समय ऊपर उठने या पलायन करने के प्रयास में लगा है। इन्हीं कारणों से इस तथाकथित द्रष्टा और भय के बीच एक निरंतर लड़ाई चल रही है। यह लड़ाई महज ऊर्जा की बरबादी है।

जैसे-जैसे आप निरीक्षण करते है, आपको यह पता चलने लगता है कि देखनेवाला अर्थात् द्रष्टा धारणाओं और स्मृतियों का एक बंडल मात्र है जिसमें न कोई सार है और न जिसका कोई सार्थक आधार है। लेकिन भय एक वास्तविकता और हक़ीकत है जिसे आप कल्पना और सिद्धांत के सहारे समझना चाहते हैं—किन्तु यह हर हालत में असम्भव है। तो वह द्रष्टा जो कहता है, "मैं भयभीत हूँ और मैं अपने भय को देख रहा हूँ", क्या वह स्वयं भय से अलग कोई भिन्न चीज़ है जिसका वह एक बाह्य और पृथक् सत्ता के रूप में निरीक्षण करने का दावा कर रहा है ? सत्य यह है कि यह द्रष्टा ही भय है। और जब यह बोध हो जाता है, तो भय से मुक्त होने के प्रयास में होने वाला, ऊर्जा का नाश और क्षय भी रुक जाता है। साथ ही साथ

द्रष्टा और दृश्य के बीच देश-काल का अंतराल विदा हो जाता है। जब आप यह देखते हैं कि आप भय से भिन्न नहीं हैं, इसी का एक हिस्सा हैं—बल्कि आप स्वयं भय हैं—तो इस भय के सम्बन्ध में कुछ भी कर पाने की आवश्यकता ही नहीं होती है। तब भय का स्वतः समग्र अंत हो जाता है।

छः

हिंसा—क्रोध—समर्थन और निंदा—आदर्श और यथार्थ

भय, सुख, दुःख, विचार और हिंसा—ये सब एक-दूसरे से जुड़े हैं। हममें से अधिकांश लोगों को हिंसा में सुख मिलता है। किसी को नापसंद करने में, एक विशेष जाति या वर्ग के लोगों से घृणा करने में, दूसरों के प्रति विरोधी विचार और भावनाएँ रखने में भी लोग एक तरह के सुख का अनुभव करते हैं। लेकिन मन से जब सारी हिंसा विदा हो जाती है, तो वह एक अपूर्व आनंद से भर जाता है। संघर्ष, घृणा, और भय पर आधारित हिंसा से प्राप्त होनेवाले सुख की तुलना इस आनंद से नहीं की जा सकती।

क्या हम हिंसा की जड़ तक पहुँच सकते हैं और इससे मुक्त हो सकते हैं? अन्यथा एक दूसरे के साथ हम सदा तनाव और द्वंद्व में ही जीते रहेंगे। अधिकांश लोग प्रत्यक्षतः इसी तरह जी रहे हैं। अगर आप भी ऐसे ही जीना चाहते हैं, तब तो मुझे कुछ कहना नहीं है। क्योंकि अगर आप कहते हैं, "खैर, मुझे अफसोस है, क्योंकि हिंसा तो समाप्त होनेवाली चीज़ है नहीं", तो आपके और मेरे बीच फिर संवाद का माध्यम ही नहीं बचता। क्योंकि अब आपने अपने सामने एक दीवार खड़ी कर ली है। लेकिन, अगर आप कहते हैं, "नहीं, जीने का कुछ अलग ढंग, एक भिन्न शैली भी हो सकती है", तो हम एक दूसरे के साथ संवाद कर पायेंगे।

इस तरह अगर हम आपस में संवाद कर पाने में सक्षम और समर्थ हैं, तो हम साथ-साथ इस बात पर विचार करें कि क्या यह सचमुच संभव है कि विकराल रूप से क्रूर इस संसार में रहते हुए भी हम अपने भीतर हर तरह की हिंसा को जड़मूल से मिटा डालें। मेरे विचार से यह संभव है। मैं अपने भीतर चिंता, घृणा, ईर्ष्या और भय की एक साँस तक लेना नहीं चाहता। मैं निपट शांति और अमन-

चैन से जीना चाहता हूँ। जिसका मतलब यह नहीं कि मैं मर जाना चाहता हूँ। मैं इस धरती पर जीना चाहता हूँ, जो इतनी सुन्दर, इतनी समृद्ध और इतनी भरपूर है। मैं पेड़ों, फूलों, नदियों, हरे-भरे मैदानों, भाँति-भाँति के लोगों, औरतों, युवक-युवतियों, हँसते-खेलते बच्चों को देखना चाहता हूँ। अर्थात् मैं जीवन के उसके हर रूप में दर्शन करना चाहता हूँ। साथ ही साथ मैं यह भी चाहता हूँ कि मैं अपने साथ और इस जगत के साथ पूरी शांति से जिऊँ। तो इसके लिए मुझे क्या करना होगा ?

हिंसा चाहे जहाँ भी हो, बीज रूप में मौजूद हमारे भीतर हो या फिर बाहर की ओर फैले सामाजिक वर्ग-संघर्ष, दंगे-फसाद, अंतर-राष्ट्रीय प्रतिद्वंद्विता और युद्ध हो—अगर हम हिंसा को सही-सही देखना सीख जायें, तो शायद हम इसके पार जा सकेंगे।

हिंसा एक अत्यंत जटिल समस्या है। सदियों-सदियों से मनुष्य हिंसक रहा है। संसार भर में फैले अनेक धर्मों ने मनुष्य को मर्यादा में बाँधने की, उसे संयत करने की कोशिश की है, लेकिन इस प्रयास में उनमें से कोई भी सफल न हुआ। अतः अगर हमें इस समस्या की गहराई से छानबीन करनी है, तो हमें इस संबंध में अति गंभीर होना चाहिए, तभी हम हिंसा से ऊपर उठकर चेतना की एक नयी ऊँचाई को छू पायेंगे। लेकिन अगर हम केवल बौद्धिक विलास और मनोरंजन के लिए इस समस्या से खेलना चाहते हैं, तो हम कोई अधिक दूर नहीं जा पायेंगे।

आपको ऐसा लग सकता है कि आप स्वयं इस समस्या के प्रति तो अत्यंत गंभीर और चिंतनशील हैं, पर जब तक दुनिया के बाकी सारे लोग आपकी तरह गंभीर नहीं होते और इस संबंध में कुछ करने के लिए तैयार नहीं होते, तब तक आपके अकेले कुछ भी करने से क्या होने वाला है! लेकिन वे इसे गंभीरता से लेते हैं या नहीं, इसकी परवाह मैं क्यों करूँ! मैं इसे गंभीरता से लेता हूँ, इतना ही काफी है। मैंने अपने भाई-बंधुओं का जिम्मा तो नहीं ले रखा है अपने

ऊपर ? एक मानव के नाते मैं स्वयं हिंसा की कुरूपता और खतरे को अत्यंत गहराई से अनुभव करता हूँ, और इसलिए मैं हर हमेशा इतना खयाल रखूँगा कि कम-से-कम मैं स्वयं अपने भीतर हिंसक न रहूँ। लेकिन मैं आपको या किसी और को कैसे कह सकता हूँ कि 'हिंसक मत बनो।' इसका कुछ भी मतलब और मूल्य नहीं है—जब तक आप स्वयं ऐसा नहीं चाहते। अगर आप सचमुच हिंसा की इस समस्या को समझना और सुलझाना चाहते हैं, तो हम साथ-साथ इसकी छानबीन और जाँच-पड़ताल की यात्रा प्रारंभ करें।

हिंसा की समस्या बाहर कहीं और खड़ी है या वह यहीं मौजूद है ? क्या बाहरी जगत में जो हिंसा की समस्या है आप उसको हल करना चाहते हैं या स्वयं आपके भीतर जो हिंसा मौजूद है खुद उसकी तह में आप जाना चाहते हैं ? अगर आप स्वयं अपने भीतर हिंसा से मुक्त हो गये हैं, तो आप पूछेंगे, "हिंसा, क्रूरता, ईर्ष्या, लोभ, छीना-झपटी और हड़पने-हथियाने की होड़ से भरे इस संसार में मैं कैसे जिऊँ ? यह मुझे निगल तो नहीं जायेगा, नष्ट-भ्रष्ट तो नहीं कर देगा ?" यह एक अवश्यंभावी प्रश्न हैं, जो प्रायः पूछा जाता रहा है। जब आप ऐसा प्रश्न करते हैं, तो मुझे ऐसा लगता है कि आपने स्वयं अपने जीवन में अभी पूरी शांति स्थापित नहीं कर ली है। अगर आपके जीने में पूर्ण शांति विराजती है, तो यकीन मानिये, आपके लिए फिर कोई समस्या रह नहीं सकती। भले ही आपको बंदी बनाकर कारावास में डाल दिया जाये, क्योंकि आप फौज और सेना में भरती होने से इनकार करते हैं; भले ही आपको गोली से उड़ा दिया जाये, क्योंकि लड़ाई में भाग लेना आपको मंजूर नहीं—लेकिन यह आपके लिए कोई समस्या नहीं बनती। आपको गोली मार दी जायेगी, ठीक ! बस, इतनी-सी बात ! इसे ठीक-ठीक समझ लेना अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। यह समझ मात्र व्यक्ति के जीवन में एक असाधारण क्रांति है।

हम हिंसा को एक धारणा के रूप में नहीं बल्कि एक हक़ीकत के रूप में समझने की कोशिश कर रहे हैं—ऐसी हक़ीकत जिसका

अस्तित्व मनुष्य के भीतर है। और मनुष्य तो मैं स्वयं हूँ। इस समस्या की गहराई से छानबीन करने के लिए मुझे पूरी संवेदनशीलता और खुलेपन के साथ इसके आमने-सामने होना होगा। कहने का मतलब, मुझे स्वयं अपने सामने पूरी तरह खुलकर आना होगा। यह जरूरी नहीं कि मैं आपके सामने अपने को खोल कर रखूँ, क्योंकि इससे कुछ हल नहीं होगा। साथ ही साथ मुझे मन की एक ऐसी स्थिति में होना चाहिए जो अंत-अंत तक इस समस्या का पीछा करते हुए इसको देखने-समझने के लिए तत्पर है, जो बीच में ही थककर-हारकर बैठ नहीं जाये कि मुझसे अब और आगे चला नहीं जाता।

तो यह बात अब मुझे बिलकुल स्पष्ट हो जानी चाहिए कि मैं एक हिंसक आदमी हूँ। इस हिंसा की अनुभूति मैंने कई रूपों में की है। क्रोध में, काम-वासना की आतुरता में, घृणा, द्वेष और आपसी दुश्मनी में मैंने हिंसा को देखा है, उसे जाना है। इसलिए अब मैं स्वयं से यह कह रहा हूँ, "मैं इस पूरी समस्या को सही-सही समझना चाहता हूँ, केवल इसके एक खंड को नहीं, जो युद्ध इत्यादि के रूप में छिटपुट ढंग से प्रकट होता रहता है, बल्कि आदमी के अंदर छिपी उस आक्रामकता को जो जानवरों में भी पायी जाती है और जिसका मैं एक हिस्सा हूँ।"

हिंसा केवल दूसरे की हत्या करना ही नहीं है। जब हम तीखे और पैने शब्दों का प्रयोग करते हैं, जब किसी आदमी की उपेक्षा करने के लिए हम खास भंगिमा और मुद्रा अपनाते हैं, जब भय के अधीन किसी का हुक्म बजाते हैं या उसकी तरफदारी करते हैं—तो यह सब भी हिंसा है। देश, समाज और ईश्वर के नाम पर जो संगठित हत्या और मारकाट चलती है, केवल वही हिंसा नहीं है। हिंसा का अत्यधिक सूक्ष्म और कहीं गहरा अस्तित्व है। हिंसा की उसी गहराई में पैठकर हम उसकी छानबीन और जाँच-पड़ताल कर रहे हैं।

जब आप अपने को भारतीय या यूरोपीय या मुसलमान या ईसाई या ऐसा ही और कुछ कहते और मानते हैं, तो आप हिंसक हो रहे हैं। क्या आप जानते हैं, ऐसा क्यों? वह इसलिए कि तब आप शेष मानव

जाति से अपने को अलग कर रहे हैं। जब आप धर्म, परंपरा, राष्ट्रीयता के आधार पर अपने को अलग करते हैं, तो इससे हिंसा जन्म लेती है। वह आदमी जो हिंसा को समझने की दिशा में प्रयत्नशील है, वह न तो किसी धर्म का है और न किसी देश या राजनीतिक पार्टी का अर्थात् किसी भी पक्षपाती पद्धति और प्रक्रिया से वह जुड़ा नहीं होता। क्योंकि वह अपना संबंध समूची मानव जाति से रखता है; क्योंकि वह मानवमात्र के स्वभाव को समझने में जुटा है।

अब, हिंसा की व्याख्या करने वाली प्रमुख रूप से दो विचार-धाराएँ हैं। एक का कहना है कि हिंसा मनुष्य का जन्मजात स्वभाव है। दूसरी विचारधारा कहती है कि हिंसा उस सामाजिक और सांस्कृतिक परंपरा और विरासत का नतीजा है जिसके साथ मनुष्य पलता-बढ़ता और जीता है। इनमें से किस विचारधारा का विश्लेषण हमारे बारे में अधिक सही है, हमें इससे कुछ लेना-देना नहीं है। न तो यह महत्त्वपूर्ण ही है। महत्त्वपूर्ण तो यह हक़ीकत है कि हम हिंसक हैं, न कि इसका कारण अथवा इसके जन्म-इतिहास का लेखा-जोखा।

क्रोध हिंसा की सामान्य अभिव्यक्तियों में से एक है। जब मेरी पत्नी या बहन के साथ कोई छेड़खानी करता है तो मैं कहता हूँ कि मेरा क्रोध बिलकुल जायज और उचित है। जब मेरे देश पर, मेरे विचारों और सिद्धांतों पर कोई आक्रमण करता है, जब मेरे जीने के रंग-ढंग पर कोई उँगली उठाता है, तब भी मैं अपने क्रोध को जायज और उचित ठहराता हूँ। जब मेरे क्षुद्र और छोटे-मोटे मतों, विचारों और धारणाओं पर कोई प्रश्न खड़ा करता है या मेरी आदतों पर कोई आपत्ति प्रकट करता है, तब भी मैं क्रोध में आ जाता हूँ। जब आप मुझे चोट पहुँचाते हैं या अपमानित करते हैं, तो मेरे क्रोध की सीमा नहीं रहती। अथवा, अगर आप मेरी पत्नी को भगा ले जाते हैं और मैं ईर्ष्या से जल उठता हूँ, तो उस ईर्ष्या को बिलकुल जायज माना जाता है, क्योंकि मेरी पत्नी मेरी जायदाद है। इस सब क्रोध को नैतिक रूप से न्यायसंगत माना जाता है। और तो और, अपने

देश के लिए लोगों की जान लेने को भी न्यायसंगत ठहराया जाता है। तो क्रोध, जो हिंसा का ही एक हिस्सा है, जब उसकी हम छानबीन करते हैं, तो क्या हम अपने झुकावों और परिवेश की प्रेरणाओं से प्रभावित होकर क्रोध को जायज और नाजायज के रूप में देखते है या क्रोध को शुद्ध उसी के रूप में देखते और समझते हैं ? क्या कभी क्रोध जायज और उचित भी होता है ? या वह केवल क्रोध होता है ? क्रोध यानी क्रोध ! प्रभाव कोई भी न अच्छा है न बुरा—केवल प्रभाव है। लेकिन जब आप किसी ऐसी चीज से प्रभावित होते हैं जो मेरे अनुकूल नहीं बैठती, तो उसे मैं झट से बुरा प्रभाव कह देता हूँ।

जिस क्षण आप किसी चीज की रक्षा करने पर उतर आते हैं, चाहे वह जो कुछ हो—आपका परिवार, आपका देश, उस रंगीन चिथड़े और लत्ते का ठुकड़ा जिसे झंडा कहा जाता है, आपका मत, धर्म, संप्रदाय, आपकी कोई प्रिय वस्तु या वह जिसे आप पाना चाहते हैं—तो उसकी रक्षा के लिए आपका उठ खड़ा होना ही क्रोध का परिचायक है। तो क्या आप क्रोध को देख सकते हैं, बिना इसके लिए सफाई और दलील देते हुए, बिना पक्ष लेते हुए, बिना यह कहते हुए कि "मुझे अपनी अच्छाइयों की रक्षा तो करनी ही है" या "मेरा क्रोध करना तो बिलकुल जायज था" या "अरे, मैं भी कैसा बेवक़ूफ़ हूँ कि क्रोध में आ गया ?" क्या हम क्रोध को इस तरह देख सकते हैं मानो अपने पैरों पर अपने बलबूते खड़ा उसका अपना अलग, स्वतंत्र और ठोस अस्तित्व हो ? क्या आप बिलकुल वस्तुगत और तटस्थ होकर क्रोध का निरीक्षण कर सकते हैं ? जिसका अर्थ हुआ, न उसका बचाव और समर्थन, न उसकी निंदा और आलोचना। क्या आप ऐसा कर सकते हैं ?

अगर मैं आपका कट्टर विरोधी हूँ या मैं मान बैठा हूँ कि आप एक अद्भुत आदमी हैं, तो क्या इन स्थितियों में मैं आपको सही-सही देख पाऊँगा ? अगर आपकी ओर देखते हुए मैं समुचित ध्यान और सावधानी से भरा हूँ ताकि इस देखने में उपर्युक्त दोनों स्थितियों में से

किसी का हस्तक्षेप न हो, तभी मैं आपको सही अर्थों में देख पाऊँगा। क्या इसी प्रकार हम क्रोध को भी देख सकते हैं ? जिसका अर्थ हुआ कि मैं खुले हृदय और मन से इस समस्या के सामने खड़ा हो गया हूँ। मैं अब इसका प्रतिरोध नहीं करता। अपनी ओर से बिना किसी प्रतिक्रिया के मैं इस असाधारण और अद्‌भुत घटना का निरीक्षण कर रहा हूँ।

निष्पक्ष, निरपेक्ष और भावशून्य होकर क्रोध को देख पाना अत्यंत कठिन है, क्योंकि क्रोध मेरा ही एक हिस्सा है। लेकिन मेरी सारी कोशिश ही इस बात की है कि मैं क्रोध को शांतचित्त होकर देख पाऊँ। चाहे मैं जैसा भी आदमी होऊँ, काला, गोरा, भूरा या गेहुँआ—मैं इतना जानता हूँ कि मैं एक हिंसक आदमी हूँ। मुझे इससे मतलब नहीं कि यह हिंसा मैंने विरासतस्वरूप पायी है या समाज ने इसे मेरे भीतर पैदा किया है। मेरा सारा ध्यान केवल इस बात पर है, क्या हिंसा से मुक्त हुआ जा सकता है ? हिंसा से मुक्त होना ही मेरे लिए सब कुछ है; यह मेरे लिए कामवासना, भोजन, पद-प्रतिष्ठा से भी अधिक महत्त्वपूर्ण है। क्योंकि हिंसा मुझे भ्रष्ट किये दे रही है। यह मेरा सत्यानाश कर रही है और सारे संसार का भी। इसलिए मैं इसे समझना चाहता हूँ। मैं इसके पार जाना चाहता हूँ। मैं महसूस करता हूँ कि क्रोध और हिंसा की लपटों में झुलसते हुए इस संसार के लिए मैं भी उत्तरदायी हूँ। मैं केवल शब्दों का जोड़-तोड़ नहीं बैठा रहा हूँ बल्कि मैं स्वयं को सचमुच ज़िम्मेवार महसूस करता हूँ। मैं स्वयं से यह कह रहा हूँ, "कुछ भी सार्थक और सर्जनात्मक मैं तभी कर सकता हूँ अगर मैं स्वयं क्रोध, हिंसा, राष्ट्रीयता आदि के बाहर आ गया हूँ।" यह भावमात्र कि मुझे अपने भीतर हिंसा को समझना ही चाहिए, प्रचंड लगन और जीवंतता पैदा करता है।

लेकिन तथ्य यह भी है कि हिंसा से बाहर होने के लिए मैं इसको दबा नहीं सकता, इसको नकार नहीं सकता, यह नहीं कह सकता कि "खैर, यह तो मेरा एक हिस्सा है, और है तो है", या "मैं इसे बिल-

कुल नहीं चाहता।" वस्तुतः हिंसा से बाहर होने के लिए मुझे इसका निरीक्षण करना पड़ेगा, इसका अध्ययन करना पड़ेगा, इसके साथ मुझे बिलकुल आत्मीय, अंतरंग और घनिष्ठ होना पड़ेगा। अंतरंग तब तक नहीं हुआ जा सकता, जब तक मैं हिंसा की निंदा और उसका समर्थन कर रहा हूँ हालाँकि इसकी निंदा और समर्थन छोड़ हम कुछ करते भी नहीं। इसलिए मैं कह रहा हूँ, कभी तो यह निंदा और समर्थन करना बंद कीजिये।

अतः अगर आप हिंसा को बंद करना चाहते हैं, युद्ध को खत्म करना चाहते हैं, तो आप इस दिशा में अपना और अपने जीवन का कितना कुछ लगाने को तैयार हैं—कितने प्राण, कितनी ऊर्जा ? हिंसक घटनाओं में आपके बच्चे बेमौत मारे जाते हैं। आपका बेटा फौज में जाकर भरती हो जाता है, जहाँ के कसाई लोग उसे सता-सताकर, ठोक-पीटकर जानवर बना देते हैं और एक दिन उसे मरने या मारने के लिए कहीं पर भेज दिया जाता है। क्या इसकी आपको कोई फिक्र नहीं ? क्या यह आपके लिए महत्त्वपूर्ण सवाल नहीं है ? हे भगवान, अगर इन बातों की ओर आपका ध्यान नहीं जाता है, तो फिर आपका ध्यान जाता है किधर ? अपनी तिजोरी की रखवाली करने में ? मौज-मस्ती करने में ? नशाखोरी करने में ? क्या आप नहीं देखते कि आपके अंदर की यह हिंसा आपके बच्चे के विनाश का कारण है ? या आपको यह सब केवल एक काल्पनिक विचार की तरह लगता है ?

लेकिन अगर यह सब आपके लिए सचमुच महत्त्वपूर्ण है, तो ठीक है, आप अपने पूरे हृदय और मन से इस सबकी खोजबीन और जाँच-पड़ताल करें। ऐसा नहीं कि आप आराम से बैठे रहिये और मुझसे कहिये, "अच्छा, आप ही बताइये न हमें इस संबंध में सब कुछ।" मैं यह तथ्य आपके सामने रख रहा हूँ कि आप क्रोध और हिंसा को उन आँखों से नहीं देख सकते, जो केवल निंदा या समर्थन करना जानती हैं। अगर यह हिंसा आपके लिए एक ज्वलंत समस्या नहीं है, तो ये दोनों चीजें आपसे दूर जानेवाली नहीं हैं। इसलिए पहले तो आपको कई चीज़ें सीखनी हैं। यह कला सीखनी है कि क्रोध को कैसे देखें।

यह भी सीखना है कि अपने पति को, पत्नी को, अपने बच्चे को कैसे देखें। अर्थात् आप ध्यान से, ग़ौर से देखना सीखें। राजनीतिज्ञों और राजनेताओं को देखें—उनके हाव-भाव को देखें। फिर स्वयं को देखते हुए, अपना निरीक्षण करते हुए, आप यह पता लगायें कि आप वस्तु-परक और तटस्थ क्यों नहीं हैं। आप निंदा और समर्थन, इन दो अतियों पर क्यों दौड़ते रहते हैं? आपको यह सीखना और जानना है कि आप निंदा या समर्थन इसलिए करते हैं क्योंकि यह उस सामाजिक ढाँचे का हिस्सा है जिसमें आप जीते हैं—एक भारतीय, अमरीकी, जर्मन या नीग्रो इत्यादि के रूप में आपके संस्कार और इन संस्कारों के कारण हो गया आपका मंद और मूढ़ दिमाग। कुछ भी मौलिक सीखना हो, उसकी खोज करनी हो, तो आपके पास गहराई में पैठने की क्षमता होनी चाहिए। अगर आपका औज़ार मंद और कुंद है, तो आप बहुत गहरे नहीं जा सकते। तो हम जो कर रहे हैं, वह है औज़ार को तेज़ करना, उसको धार देना—और औज़ार है हमारा मन और दिमाग़, जो निंदा और समर्थन के दो पाटों में पिसकर मंद, कुंद और धारहीन हो गया है। अगर आपका मन सुई की तरह तेज और हीरे की तरह मज़बूत है, तभी आप गहराई में प्रवेश कर सकते हैं अन्यथा नहीं।

इससे कोई फायदा नहीं कि आप मज़े-ठाठ से बैठकर पूछिये, "मैं ऐसा मन कैसे पा सकता हूँ?" आपको इसे चाहना पड़ेगा, जैसे आप अपने अगले समय का भोजन चाहते हैं। और इसे पाने के लिए आपको साफ-साफ देखना पड़ेगा कि जिस कारणवश आपका मन मंद, मूढ़ और जड़ हो गया है, वह है समस्त से स्वयं को काटकर अपने भीतर बंद हो जाना और सिमट जाना। इस तरह अपने ही हाथों खड़ी की गयी सुरक्षा की दीवारों के भीतर मन कैद हो जाता है, जो निंदा और समर्थन के दुष्चक्र का ही हिस्सा है। अगर मन एक छलाँग के साथ इसके बाहर आ जाये, तब आप देख सकते हैं, अध्ययन कर सकते हैं, गहरे से गहरे जा सकते हैं और शायद उस स्थिति में पहुँच सकते हैं जहाँ सारी समस्या समग्र रूप से पकड़ में आ जाती है।

तो अब हम मुख्य प्रश्न पर लौट आयें—क्या अपने भीतर से हिंसा को जड़-मूल से उखाड़ फेंकना संभव है ? दरअसल यह भी हिंसा का ही एक रूप होगा अगर मैं कहूँ, "आपमें तो अब तक परिवर्तन आया ही नहीं है ! आखिर ऐसा क्यों ?" खैर, मैं यह पूछने भी नहीं जा रहा हूँ। मैं नहीं चाहता कि आपसे अपनी कोई बात मनवा लूं। इसका मेरे लिए रत्ती भर भी मूल्य नहीं है। यह आपका जीवन है, मेरा नहीं। जिस ढंग से आप जीते हैं, वह आपका मामला है। मैं तो इतना पूछ रहा हूँ: मनोवैज्ञानिक तल पर, किसी भी समाज में जीते हुए एक व्यक्ति के लिए क्या आंतरिक रूप से स्वयं को हिंसा से खाली करना संभव है ? अगर हाँ, तो यह प्रक्रियामात्र इस संसार में जीने की एक नयी रीति और नयी शैली को जन्म देगी।

हममें से अधिकांश लोगों ने हिंसा को जीवन के अंग और जीने के ढंग के रूप में अपना लिया है। पिछले दो भयानक विश्वयुद्धों ने हमें मनुष्य और मनुष्य के बीच गहरी से गहरी खाई खोदने के सिवाय और क्या सिखाया है ? यही न कि हम और आप एक-दूसरे से दूर होते चले जायें ? लेकिन फिर भी, हममें से वे लोग जो हिंसा के बाहर निकलना चाहते हैं, इससे छुटकारा पाना चाहते हैं, उनके लिए क्या उपाय है ? मुझे नहीं लगता कि विश्लेषण के द्वारा हम कहीं पहुँच पायेंगे—चाहे यह विश्लेषण हम स्वयं करें या कोई पेशेवर मनोविश्लेषक हमारा विश्लेषण करे। हो सकता है कि थोड़ा-बहुत मामूली परिवर्तन आ जाये हममें, हम थोड़े शांत और संयत हो जायें, व्यवहार में थोड़ा स्नेह और शिष्टता ले आयें--लेकिन यह अपने आप में समग्र दृष्टि और बोध तो नहीं दे सकता। आत्मविश्लेषण की कला हमें अवश्य जाननी चाहिए। क्योंकि आत्मविश्लेषण की प्रक्रिया में हमारा मन असाधारण रूप से तीक्ष्ण हो जाता है, और यह तीक्ष्णता, सजगता और गंभीरता की ही गुणवत्ता है जो समग्र दृष्टि-बोध देती है। दुर्भाग्यवश व्यक्ति के पास वह आँख नहीं है कि वह एक झलक में सारी चीज़ को देख ले। ऐसी स्पष्ट और व्यापक दृष्टि तो तभी मिलती है जब व्यक्ति अपने आंतरिक जगत की सारी बातों को

विस्तारपूर्वक देख ले और तत्क्षण एक छलाँग के साथ बाहर कूद पड़े। तभी वह आँख उपलब्ध हो सकती है।

हममें से कुछ लोगों ने हिंसा से अपने को मुक्त करने के लिए एक सिद्धांत, एक आदर्श का प्रयोग किया है, जिसे 'अहिंसा' के नाम से पुकारा जाता है। हम सोचते हैं कि हिंसा के विपरीत एक आदर्श (अहिंसा) को अपनाकर हम तथ्य से, हक़ीकत से छुटकारा पा लेंगे। लेकिन यह कदापि संभव नहीं है। आदर्शों का तो कभी अभाव रहा नहीं है, सारी धार्मिक पुस्तकें उनसे भरी पड़ी हैं। लेकिन हक़ीकत यही है कि हम आज भी हिंसक हैं। तो क्यों न हम हिंसा को अर्थात् तथ्य को ही समझने-बूझने की कोशिश करें, शब्दों को खींच-तान कर नये-नये आदर्श गढ़ना बंद करें।

और अगर तथ्य को, सचाई को समझना हो, तो आपको उस ओर अपना पूरा ध्यान, अपनी संपूर्ण ऊर्जा देनी होगी। किंतु उस ध्यान और ऊर्जा में तब विक्षेप और बाधा आ जाती है जब कोई व्यक्ति आदर्श और कल्पना के जगत की सृष्टि कर लेता है। तो क्या आप आदर्श को पूरी तरह निष्कासित कर सकते हैं ? वह व्यक्ति जो सच-मुच गंभीर है, सच्चा है, जिसे ललक और लगन है सत्य को खोजने की, प्रेम को जानने की, वह कोई सिद्धांत और धारणा नहीं रखता। वह निपट 'जो है' उसी में जीता है।

आप अपने क्रोध की वास्तविकता की छानबीन और जाँच-पड़-ताल तभी कर सकते हैं जब आप इस पर कोई निर्णय या फैसला न दें। जब आप क्रोध के विपरीत किसी विकल्प की कल्पना कर लेते हैं, तो इसका अर्थ ही है कि क्रोध के प्रति आप निंदा से भरे हैं। निंदा की आँख से आप क्रोध को ठीक वैसा ही नहीं देख पायेंगे जैसा यह है। जब आप कहते हैं कि आप अमुक व्यक्ति को नापसंद या नफ़रत करते हैं, तो यह आपकी एक असलियत है—हालाँकि सुनने में यह अप्रिय और भयानक लग सकता है। लेकिन अगर आप इस असलियत को यानी अपनी नफ़रत और नापसंदगी को साफ-साफ देखते हैं, पूरी

गहराई में जाकर इसकी छानवीन करते हैं, तो यह तिरोहित हो जाती है, समाप्त हो जाती है। लेकिन अगर आप कहते हे, "मुझे नफ़रत और घृणा कभी नहीं करनी चाहिए, मेरे हृदय में सदा प्रेम होना चाहिए", तो आप दोहरे मानदंडों के साथ एक पाखंड और आडंबर के जगत में जी रहे हैं। क्षण में संपूर्ण रूप से, समग्र रूप से जीने का अर्थ है, उसके साथ जीना 'जो है'। जो वास्तविकता और यथार्थ तत्काल मौजूद है उसके साथ जीना—विना किसी निंदा या समर्थन के भाव के। तब उस यथार्थ और वास्तविकता को आप इतनी समग्रता से समझ लेते हैं कि उससे आप रिक्त और मुक्त हो जाते हैं। जब आप बिलकुल साफ और स्पष्ट देखते हैं तो यह देखना ही समस्या का समाधान बन जाता है।

तो क्या आप हिंसा के चेहरे को साफ और स्पष्ट देख सकते हैं—हिंसा का चेहरा जो न केवल आपके बाहर बल्कि भीतर भी है? जिसका अर्थ होगा, हिंसा से पूर्णतः मुक्त हो जाना और तब आप हिंसा से मुक्त होने के लिए सभी आदर्शों और विचारधाराओं की व्यर्थता को भी साफ-साफ देख सकते हैं। वस्तुतः इसके लिए अत्यंत गहरा ध्यान आवश्यक है—न कि आपकी शाब्दिक सहमति या असहमति।

अब आप वक्तव्यों की एक श्रृंखला को पढ़ चुके हैं, लेकिन क्या आपने वस्तुतः उन्हें समझ भी लिया है? आपका संस्कारबद्ध मन, आपके जीने का ढंग, जिस समाज में आप रहते हैं उसकी पूरी संरचना—ये सब आपको यथार्थ को देखने और इससे तत्काल पूरी तरह मुक्त हो जाने से रोकते हैं। आप कहेंगे, "मैं इस सम्बन्ध में सोचूंगा। मैं इस पर विचार करूँगा कि हिंसा से मुक्त होना संभव है या नहीं। मैं इससे मुक्त होने की कोशिश करूँगा।" इससे और भयानक वक्तव्य क्या हो सकता है कि "मैं कोशिश करूँगा।" यहाँ कोशिश करने का, आपके भरसक प्रयत्न करने का क्या सवाल है! या तो आप इसे करते हैं या आप इसे नहीं करते हैं। इधर घर जल रहा है और उधर आप समय का हिसाब बैठा रहे हैं। घर जल रहा है संसार भर की हिंसा

के कारण, आपके भीतर की हिंसा के कारण और आप कह रहे हैं, "जरा मुझे सोच तो लेने दोजिए इस सम्बन्ध में—आग बुझाने के लिए सबसे अच्छी विचारधारा और पद्धति कौन-सी है ?" जब सारा घर आग में जल रहा होता है, उस समय क्या आप इस बहस और विवाद में पड़ते हैं कि जो व्यक्ति पानी ला रहा है उसके चेहरे और बाल का रंग कौन सा है ?

सात

संबंध — संघर्ष—समाज—निर्धनता—मादक द्रव्य—निर्भरता — तुलना—चाह—आदर्श—आडंबर

पिछले अध्याय में हमने हिंसा की समाप्ति पर विचार किया। यहाँ यह ध्यान देने योग्य बात है कि हिंसा की समाप्ति का अनिवार्य रूप से यह अर्थ नहीं है कि मन ने अपने भीतर और बाहर सारे परस्पर संबंधों में पूरी शांति स्थापित कर ली है।

मनुष्यों के बीच परस्पर संबंध प्रतिमा-निर्माण की प्रक्रिया पर आधारित है। यह सूक्ष्म रूप से एक-दूसरे के विरुद्ध रक्षात्मक व्यवस्था है। अपने सभी परस्पर संबंधों में हममें से प्रत्येक व्यक्ति दूसरे के बारे में एक प्रतिमा, एक तसवीर निर्मित कर लेता है, और इसलिए परस्पर संबंध इन दो प्रतिमाओं के बीच होता है न कि स्वयं मनुष्यों के बीच। पत्नी ने अपने पति के बारे में एक प्रतिमा बना ली है अपने मन में—भले ही चेतन रूप से नहीं—और पति ने भी पत्नी की एक प्रतिमा बना रखी है अपने मन में। हम अपने बारे में, अपने देश के बारे में प्रतिमा निर्मित किये रहते हैं, और इसमें नित नयी-नयी प्रतिमाएँ जोड़कर इसको और मजबूत और सबल बनाते चले जाते हैं। तो जिसे मानव का आपसी संबंध और रिश्ता कहा जाता है, वह दरअसल इन प्रतिमाओं का ही आपसी संबंध है। जब प्रतिमाएँ बनने लगती हैं तब मनुष्यों के बीच वास्तविक संबंध पूरी तरह समाप्त हो जाता है।

प्रतिमाओं पर आधारित जो संबंध है उससे मनुष्य के आपसी संबंधों में कभी शांति नहीं आ सकती, क्योंकि प्रतिमाएँ कल्पित की हुई हैं और व्यक्ति कल्पनाओं को ही आधार बनाकर नहीं जी सकता। फिर भी हम सब वही किये चले जा रहे हैं—धारणाओं, सिद्धांतों, प्रतीकों और प्रतिमाओं में ही हम जी रहे हैं, जिन्हें हमने अपने और

दूसरों के बारे में निर्मित कर लिया है और जो वास्तविकता पर आधारित नहीं है बल्कि हमारी कल्पनाओं की उपज हैं। हमारे सभी संबंध—चाहे वे लोगों के साथ हों, धारणाओं के साथ या अपनी संपत्ति और ज़ायदाद के साथ हों-अनिवार्य रूप से ये संबंध प्रतिमा-निर्माण पर ही आधारित हैं। इसलिए संघर्ष और द्वन्द्व सदा हमारे साथ बना रहता है।

तो अपने भीतर, और बाहर दूसरों के साथ, अपने सभी संबंधों में पूर्ण शांति के साथ जीना किस तरह संभव है ? आखिर जीवन का मतलब ही है परस्पर संबंधों का एक प्रवाह, परस्पर संबंधों की एक मिली-जुली गतिविधि—अन्यथा इसे जीवन कहा भी नहीं जा सकता अगर यह जीवन एक धारणा तथा एक काल्पनिक अनुमान और मान्यता पर आधारित हो, तो इस तरह कल्पनाबद्ध होकर जीने से ऐसे ही संबंध जन्म लेते हैं जो व्यावहारिक जीवन में युद्ध के स्थल बन जाते हैं। इसलिए आदमी के लिए क्या यह संभव है कि वह आंतरिक रूप से पूर्णतः व्यवस्थित जीवन जिये, जिसमें किसी प्रकार का अनुकरण, बाध्यता दमन या जोर-जबरदस्ती न हो ? क्या वह अपने भीतर एक ऐसी व्यवस्था ला सकता है जो विचारों-धारणाओं के ढाँचे से बाहर की एक जीवंत गुणवत्ता हो—एक आंतरिक शांति जो किसी भी क्षण किसी भी बाधा-व्यवधान से खंडित होना नहीं जानती ? और यह किसी अनोखे पौराणिक और काल्पनिक भाव-जगत में नहीं बल्कि घर और ऑफिस के दैनिक जीवन में विद्यमान हो।

मेरे विचार से हमें इस प्रश्न की छानबीन अत्यंत सावधानी से करनी चाहिए, क्योंकि हमारी चेतना में एक भी स्थान ऐसा नहीं है जो द्वन्द्व और संघर्ष से अछूता हो। हमारे सभी संबंधों में—चाहे वह एक अत्यधिक अंतरंग व्यक्ति के साथ हो या पड़ोसी के साथ या समाज के साथ—यह संघर्ष हमेशा मौजूद रहता है। संघर्ष यानी परस्पर विरोध, विभाजन, अलगाव और द्वैत की एक अवस्था। हम अपना और समाज के साथ अपने संबंधों का निरीक्षण करने पर पाते हैं कि

हमारे अस्तित्व के सभी तलों पर यह संघर्ष विद्यमान है—संघर्ष छोटा हो या बड़ा, यह या तो सतही प्रतिक्रियाएँ पैदा करता है या इसके परिणाम विध्वंस और सर्वनाश की ओर ले जाते हैं।

मनुष्य ने संघर्ष को अपने दैनिक जीवन-अस्तित्व के एक सहज - स्वाभाविक अंग के रूप में स्वीकार कर लिया है। उसने प्रतिस्पर्धा, ईर्ष्या, आक्रमण, लोभ, बटोरने और जमा करने की प्रवृत्ति को पहले से ही जीवन के एक सहज ढंग और तौर-तरीके के रूप में स्वीकार कर रखा है। जब हम इस ढंग से जीना स्वीकार कर लेते हैं तो हम स्वतः समाज के पूरे ढाँचे को भी स्वीकार कर लेते हैं। इस ढाँचे का अर्थ है सामाजिक प्रतिष्ठा पाने के लिए संघर्ष। हममें से अधिकांश लोग इसी मोहजाल में उलझ कर रह गये हैं, क्योंकि उन्हें अधिक से अधिक प्रतिष्ठित होना है। जब हम अपने हृदय और मन की जाँच-पड़ताल करते हैं—अर्थात् हमारे सोचने-समझने का ढंग क्या है एवं दैनिक जीवन की हमारी क्रियाएँ किस ढंग की हैं—तो हम पाते हैं कि जब तक इस समाज के ढाँचे को मानकर हम चलते रहेंगे, तब तक हमारा जीवन युद्ध और संग्राम का एक क्षेत्र बना रहेगा। लेकिन अगर हम इसे स्वीकार नहीं करें—और संभवतः कोई भी धार्मिक व्यक्ति ऐसे समाज को स्वीकार नहीं कर सकता—तो हम इस समाज के मनोवैज्ञानिक ढाँचे से पूर्णतः मुक्त हो जायेंगे।

हममें से अधिकांश लोग सामाजिक कूड़े-कचरे के धनी हैं। समाज जिस कूड़ा-करकट को पैदा करता है और हम जिसे अपने भीतर इकट्ठा करते चले जाते हैं वह है : लोभ, ईर्ष्या, क्रोध, घृणा, चिंता, डाह, तथा जलन–और इन सब चीज़ों का अपार धन हमारे पास है। संसार के अनेक धर्मों ने निर्धनता का उपदेश दिया है। संन्यासी और भिक्षु एक विशेष वस्त्र धारण कर लेता है, अपना नाम बदल लेता है, सिर घुटवा लेता है, निर्धनता (अपरिग्रह) और ब्रह्मचर्य का व्रत लेकर किसी आश्रम या मठ में जाकर बैठ जाता है। पूरब के कुछ देशों में ऐसे व्यक्तियों की भरमार है। वे एक लंगोट या एक चोगा पहनकर

और दिनभर में केवल एक बार खाकर गुजारा करते हैं--और इस दरिद्रता और निर्धनता की यहाँ बड़ी पूजा होती है। पर ऐसे लोग केवल निर्धनता का वेश धारण कर लेते हैं, लेकिन आंतरिक, मनोवैज्ञानिक और सामाजिक रूप से तो वे तब भी धनी ही रहते हैं, क्योंकि अब भी वे प्रतिष्ठा, पद और पदवी पाने की चाह में ही भटक रहे हैं। इसी क्रम में वे इस पंथ या उस पंथ, इस संप्रदाय या उस संप्रदाय की शरण में चले जाते हैं। संस्कृति और परंपरा के बँटे हुए खेमों में वे जीते हैं। तो क्या यह निर्धनता है? निर्धनता का सच्चा अर्थ है, सामाजिकता और समाजपन से मुक्त हो जाना–न कि यह चिंता कि पहनने के लिए कितने वस्त्र रखे जायें, दिन में कितनी बार भोजन किया जाये, किस ईश्वर की उपासना की जाये। इसकी फिक्र ही क्यों की जाये! लेकिन दुर्भाग्यवश अधिकांश लोग आत्म-प्रदर्शन की प्रवृत्ति के ही शिकार हैं।

जब मन समाज से मुक्त हो जाता है, तो निर्धनता एक अपूर्व और अद्‌भुत सौंदर्य की चीज़ बन जाती है। आदमी को अपने भीतर अवश्य निर्धन होना चाहिए, क्योंकि तब न किसी चीज़ की खोज के लिए दौड़-धूप होती है, न इच्छाएँ और न तो कोई प्रश्न--कुछ भी नहीं! और केवल यही आंतरिक निर्धनता संघर्षरहित जीवन के सत्य का दर्शन कर सकती है। ऐसा जीवन एक परम आशिष और प्रसाद है जो मंदिर और गिरजाघर में नहीं मिलता।

तो स्वयं को समाज के मनोवैज्ञानिक ढाँचे से मुक्त करना किस तरह संभव है—अर्थात् स्वयं को संघर्ष के मूल से मुक्त करना कैसे संभव है? संघर्ष के कुछ डालों और टहनियों को काट-छाँटकर अलग कर देना कठिन नहीं है, लेकिन हम स्वयं से यह पूछ रहे हैं कि क्या अपने भीतर और बाहर एक परम शांत-स्थिर दशा में जीना संभव है? जिसका यह अर्थ नहीं है कि हम निष्क्रिय और जड़वत् होकर जीने लगेंगे। बल्कि इसके विपरीत हम गतिशील और जीवंत हो जायेंगे तथा ऊर्जा से भर जायेंगे।

किसी समस्या को समझने और उससे मुक्त होने के लिए हमारे पास पर्याप्त मात्रा में आवेश और उत्कटता से भरी अखंडित ऊर्जा होनी चाहिए—न कि केवल शारीरिक और बौद्धिक ऊर्जा—ऐसी ऊर्जा जो किसी प्रेरणा एवं मनोवैज्ञानिक प्रोत्साहन और उद्दीपन पर निर्भर न हो। अगर हम किसी उद्दीपक पर निर्भर होते हैं तो वह उद्दीपक हमारे मन को मंद और असंवेदनशील बना देता है। मादक औषधि एवं द्रव्यों का सेवन करने से भले ही थोड़ी देर के लिए हमें इतनी ऊर्जा मिल जाये कि हम वस्तुओं को बिलकुल साफ और स्पष्ट देखने लगें, लेकिन थोड़ी देर बाद ही हमें पहले वाली अवस्था में लौट आना पड़ता हैं, और इस तरह हम उस मादक द्रव्य पर अधिक से अधिक निर्भर होने लगते हैं। अत: उत्तेजना और उद्दीपन चाहे जैसी भी हो, मंदिर की हो या शराब की या मादक औषधि की या लिखे और बोले हुए शब्दों की —वह अनिवार्य रूप से निर्भरता ही लायेगी। इस निर्भरता के कारण ही हम साफ और स्पष्ट नहीं देख पाते हैं, और इस तरह जीवंत ऊर्जा को पाने से वंचित रह जाते हैं।

दुर्भाग्यवश हम सब मनोवैज्ञानिक रूप से किसी न किसी चीज़ पर निर्भर हैं। हम निर्भर ही क्यों होते हैं? निर्भर होने की यह विवशता या उत्कट इच्छा क्यों है ? इस प्रतीक्षा में न रहें कि आपकी निर्भरता के कारणों को मैं आपसे बताने जा रहा हूँ, क्योंकि खोजबीन की इस यात्रा में आप भी तो समान रूप से सहभागी हैं ! अगर इस खोजबीन में आप स्वयं जिज्ञासापूर्वक लगे हुए हैं, तो आप अवश्य कुछ खोज पायेंगे और वह खोज आपकी अपनी होगी। जीवन में जब भी आप अपने लिए अपने-आप कुछ खोज पाते हैं, तो आप एक नयी शक्ति, जीवंतता और पुलक से भर जाते हैं।

मैं अपने लिए खोज लेता हूँ कि मैं किस चीज़ पर निर्भर हूँ। मान लीजिये, मैं अपने श्रोताओं पर निर्भर हूँ, जिनसे मुझे एक सुखद उत्तेजना और उद्दीपन मिलता है। उन श्रोताओं से तथा लोगों के एक बड़े समूह को संबोधित करने से मुझे एक तरह की ताकत और शक्ति

मिलती है। इसलिए मैं उन श्रोताओं पर, उन लोगों पर निर्भर हूँ, चाहे वे मेरी बातों से सहमत हों या असहमत। दरअसल उनकी असहमति जितनी अधिक होती है, उतनी ही जान वे मुझमें फूंक देते हैं। जब वे सहमति में अपना सिर हिलाते हैं, तो मुझे कुछ मज़ा नहीं आता—बिलकुल खाली और छिछला-सा लगता है। इस तरह मैं इस सत्य का पता लगा लेता हूँ कि लोगों की एक भीड़ मेरी एक आवश्यकता बन गयी है, क्योंकि उन्हें संबोधित करना मेरे लिए एक उत्तेजना और रोमांच की बात है। लेकिन क्यों ? आखिर मैं क्यों उन पर निर्भर हूँ ? क्योंकि मैं अपने आप में छिछला और उथला हूँ। स्वयं मेरे भीतर कुछ नहीं है। मेरे भीतर कोई भी ऐसा स्रोत नहीं है जो सदा भरा-पूरा और समृद्ध हो, सदा वहता हुआ और जीवंत हो। उसके अभाव में मुझे बाहर की किसी चीज़ पर निर्भर होना पड़ता है। तो आपने देखा न, अपने भीतर पैठने पर हम निर्भरता के कारण को खोज निकाल सकते हैं।

लेकिन कारण की खोज क्या मुझे निर्भरता से मुक्त कर देगी ? कारण का पता लगाना तो मात्र बौद्धिक क्रिया है। स्पष्ट है कि यह मन को उसकी निर्भरता से मुक्त नहीं कर सकती। किसी धारणा की मात्र बौद्धिक स्वीकृति या किसी विचारधारा के साथ भावात्मक सहमति मन को उत्तेजनाओं में भटकने से नहीं रोक सकती, और इसलिए उत्तेजना पर निर्भर मन को इससे मुक्ति नहीं दिला सकती। जो बांत मन को निर्भरता से मुक्त कर सकती है वह है—उत्तेजना और निर्भरता के स्वरूप और इसके संपूर्ण ढाँचे को साफ-साफ देखना और साथ ही यह बोध होना कि यह निर्भरता किस तरह मन को मंद, मूढ़ और जड़ बना देती है। इस तथ्य को समग्रता से देखना ही मन को मुक्त कर देता है।

इसलिए मुझे यह मालूम करना चाहिए कि समग्रता से देखने का अर्थ क्या है। जब तक मैं जीवन को एक विशेष दृष्टिकोण से या अपनी नज़र में महत्त्वपूर्ण किसी खास अनुभव से देख रहा हूँ—जब

तक मैं जीवन को संग्रह किये हुए उस विशेष ज्ञान से देख रहा हूँ जो मेरी पृष्ठभूमि है, जो 'मैं' है—तब तक मैं समग्रता से नहीं देख सकता। मैंने अपनी निर्भरता के कारण को विश्लेषण द्वारा, बौद्धिक और शाब्दिक रूप से खोजा है, लेकिन विचार चूँकि खंडों में ही काम करता है इसलिए उसकी सारी खोजबीन आंशिक और अधूरी है। अतः मैं किसी चीज़ को उसकी समग्रता में तभी देख सकता हूँ जब विचार हस्तक्षेप न करे।

इसलिए अब मैं अपनी निर्भरता के तथ्य को, इसके अस्तित्व और असलियत को ही सीधा-सीधा देखता हूँ। अर्थात् जो वस्तुतः है उसे ही मैं देख रहा हूँ। देखते हुए मेरे भीतर ऐसा भाव नहीं है कि इस निर्भरता से मेरा पिंड छूटे या निर्भरता के कारण से मैं मुक्त हो जाऊँ। मैं केवल इसका निरीक्षण कर रहा हूँ। जब इस तरह का निरीक्षण होता है, तो मैं पूरी तसवीर को देख पाता हूँ, उसके केवल एक खंड को नहीं। जब मन पूरी तसवीर को देख लेता है तो यह सहजता और सरलतापूर्वक मुक्त हो जाता है। इस तरह मैं अपने लिए इस सत्य का उद्‌घाटन कर लेता हूँ कि जब मैं खंड-खंड देखता हूँ और चीजों को खंडों में तोड़कर समझने की कोशिश करता हूँ, तो वहाँ ऊर्जा का नाश होता है। इस तरह मैं ऊर्जा के नाश के मूल कारण को ही पकड़ लेता हूँ।

आप शायद यह सोचें कि अगर आप अनुकरण करते हैं, किसी सत्ता को स्वीकार करते हैं, साधु-संत, गुरु, विधि-विधान, कर्मकांड, किसी दल या विचारधारा पर निर्भर होते हैं तो इससे ऊर्जा की बरबादी कैसे हो सकती है! लेकिन कोई भी विचारधारा, चाहे वह अच्छी हो या बुरी, धार्मिक हो या अधार्मिक, उसे स्वीकार करना और उसका अनुसरण करना स्वयं को खंडों में विभाजित करना है—जो कि संघर्ष का मूल कारण है। क्योंकि किसी विचारधारा के अनुसार चलने का अर्थ है—'जो है' और 'जो होना चाहिए' के बीच विभाजन और दूरी पैदा करना। इस दूरी को नापने का हर प्रयास एक संघर्ष है। और हर संघर्ष ऊर्जा का नाश है, अपव्यय है।

अगर आप स्वयं से यह प्रश्न पूछते हैं, "इस संघर्ष से किस तरह मुक्त हुआ जा सकता है", तो आप एक दूसरी समस्या पैदा कर रहे हैं और इसलिए आप संघर्ष को बढ़ा रहे हैं। अगर आप संघर्ष को एक तथ्य के रूप में केवल देखा करें, प्रत्यक्ष और स्पष्ट रूप से—जैसे आप किसी ठोस और मूर्त वस्तु को देखते हैं—तो आप निश्चित ही उस जीवन की सचाई और वास्तविकता को समझ जायेंगे जिसमें कोई भी संघर्ष नहीं होता।

हम इसको दूसरे ढंग से भी समझ सकते हैं। हम अभी जो कुछ हैं उसकी तुलना सदा हम उससे करते हैं जो हमें होना है। 'होना है' उसी का प्रक्षेपण है जो हम सोचते हैं कि हमें 'होना चाहिए'। लेकिन जहाँ भी तुलना होगी वहाँ विरोध और विसंगति होगी—तुलना केवल किसी व्यक्ति के साथ या किसी वस्तु के साथ ही नहीं बल्कि कल स्वयं आप जो कुछ थे उसके साथ भी। क्योंकि इस तरह 'जो है' और 'जो था' के बीच एक संघर्ष का जन्म होता है। लेकिन जब तुलना बिलकुल ही नहीं होती, तो 'जो है' वही शेष रह जाता है। और 'जो है' उसके साथ जीने का अर्थ है, परम शांत और मौन हो जाना। तब आप बिना किसी विघ्न और विक्षेप के अपना पूरा ध्यान उन चीजों की ओर दे सकते हैं जो आपके भीतर हैं—निराशा, कुरूपता, क्रूरता, भय, चिंता, अकेलापन। इनके साथ आप पूरा-पूरा जी सकते हैं। तब न कोई विसंगति और विरोध रह जाता है और न कोई संघर्ष और द्वन्द्व।

लेकिन हर समय हम अपनी तुलना उन लोगों से करते रहते हैं, जो हमसे अधिक धनी, अधिक तेज-तर्रार, अधिक प्रसिद्ध, अधिक प्रतिभाशाली, अधिक स्नेहपूर्ण, अधिक 'ये', अधिक 'वो' हैं। यह 'अधिक' हमारे जीवन में असाधारण रूप से महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है। हर हमेशा किसी व्यक्ति या वस्तु के विरुद्ध हमारा स्वयं की यह नाप-तौल करना संघर्ष के प्रमुख कारणों में से एक है।

आपके भीतर यह तुलना क्यों पैदा होती है? आप क्यों किसी दूसरे से अपनी तुलना करते हैं? यह तुलना बचपन से ही सिखायी

जाती है। हर स्कूल में 'क' विद्यार्थी की तुलना 'ख' विद्यार्थी से की जाती है, और यह 'क' बेचारा 'ख' बनने के चक्कर में अपना सत्यानाश कर डालता है। जब आप तुलना बिलकुल नहीं करते, जब आपके सामने कोई आदर्श नहीं होता, कोई विपरीत विकल्प नहीं होता, द्वैत की स्थिति नहीं होती अर्थात् जब आप 'जो हैं' उससे भिन्न कुछ भी होने के लिए संघर्ष नहीं करते—तो आपके मन की वह कौन-सी अवस्था होती है ? तब आपका मन तथ्य की वास्तविकता के साथ जीता है, तथ्य के विपरीत की खोज नहीं करता। तब आपका मन अत्यधिक समझदार और संवेदनशील हो जाता है। यह प्रचंड आवेग से भर जाता है। क्योंकि पहले यह प्रयास में लगे रहने के कारण सारा आवेग नष्ट कर डालता था—आवेग यानी जीवंत ऊर्जा के बिना आप कुछ कर नहीं सकते।

अगर आप दूसरे से अपनी तुलना नहीं करें, तो आप वही होंगे जो आप हैं। तुलना से आप आशा करते हैं कि आप बढ़ेंगे और विकसित होंगे। अधिक बुद्धिमान और सुंदर होंगे। लेकिन क्या यह सच है ? तथ्य वह है जो आप हैं। तुलना द्वारा आप केवल तथ्य को खंड-खंड कर रहे हैं—जो नाहक ऊर्जा की बरबादी है। वस्तुतः आप जो कुछ हैं उसे अगर आप बिना किसी तुलना के देखें, तो आपमें देखने की प्रचंड ऊर्जा आ जाती है। यदि आप स्वयं को बिना किसी तुलना के देख सकते हैं, तो आप तुलना के पार चले गये। इसका यह अर्थ नहीं कि मन संतुष्ट होकर निर्जीव और निष्प्राण हो जाता है। इस तरह हम सार रूप में देखते हैं कि मन किस तरह अपनी ऊर्जा को नष्ट कर लेता है जो जीवन को समझने के लिए इतनी आवश्यक है।

मैं जब संघर्ष को जानने की कोशिश कर रहा हूँ, तो मेरा उद्देश्य यह जानना नहीं है कि मेरा संघर्ष किसके साथ है। मेरे अस्तित्व की सतह और परिधि पर जो संघर्ष हैं उन्हें मैं नहीं जानना चाहता। मैं यह जानना चाहता हूँ कि जीवन में संघर्ष का अस्तित्व होना ही क्यों चाहिए। जब यह प्रश्न मैं स्वयं से करता हूँ, तो मौलिक

समस्या मेरी पकड़ में आ जाती है जिसका सतही और बाह्य संघर्षों और उनके समाधानों से कुछ लेना-देना नहीं है। किन्तु जब मैं समस्या के मूल को पकड़ लेता हूँ, तो मैं देखता हूँ—और जो शायद आपको भी दिखायी पड़े—कि हमारी इच्छा और वासना का स्वरूप ही ऐसा है कि अगर उसे ठीक-ठीक न समझा जाये, तो वह अनिवार्य रूप से संघर्ष को जन्म देगी। मैं जिन चीज़ों की इच्छा करता हूँ वे आपस में टकरा सकती हैं। इसका यह अर्थ नहीं कि मुझे अपनी इच्छाओं को खत्म कर देना चाहिए, दबा देना चाहिए तथा नियंत्रित करने का या उसे किसी विशेष दिशा में मोड़ने का प्रयास करना चाहिए।

चाह का अर्थ है, अंतर्विरोध की एक दशा। चाह होती ही है विरोधात्मक। चाह की वस्तुएँ विरोधी नहीं हैं बल्कि चाह का स्वरूप-मात्र अंतर्विरोधी है। इससे पहले कि मैं संघर्ष और द्वन्द्व को समझ सकूँ, मुझे चाह के स्वरूप को सही-सही समझना पड़ेगा। अगर मैं चाह को खत्म करने, दमन करने, नियंत्रित करने या उसे एक आदर्श रूप देने की कोशिश करता हूँ, तो उसे मैं कभी नहीं समझ सकता। हम प्रायः अपने भीतर अंतर्विरोध की एक स्थिति में होते हैं, और अन्तर्विरोध की यह स्थिति चाह के कारण ही पैदा होती है। चाह का अर्थ है, सुख के पीछे भागना, और दुःख से दूर होना। सुख की खोज और दुःख से बचाव, जिसकी छानबीन हम पहले ही कर चुके हैं।

इस तरह हम देखते हैं कि चाह ही सारी विसंगति की जड़ है—इसे चाहना, उसे नहीं चाहना, अर्थात् द्वैत की एक प्रक्रिया। शायद आपने देखा होगा कि जिस चीज़ से सुख मिलता है उसे करने में प्रयास नहीं करना पड़ता। लेकिन जल्दी ही वह सुख दुःख को भी बुला ले आता है, और तब उस दुःख से छुटकारा पाने के लिए संघर्ष करना पड़ता है, जो पुनः ऊर्जा की बरबादी है। तो यह द्वैत हममें क्यों है? निश्चय ही प्रकृति में द्वैत है—पुरुष और नारी, प्रकाश और अंधकार, रात और दिन, धूप और छाया। लेकिन आंतरिक रूप से,

मनोवैज्ञानिक रूप से हममें द्वैत क्यों है ? कृपया मेरे साथ आप भी चिंतन और मनन करें। मुझसे उत्तर की अपेक्षा न करें। उत्तर पाने के लिए आप अपने मन और मस्तिष्क का उपयोग करें, उसपर ज़ोर डालें। मेरे शब्द तो केवल एक आईना या दर्पण हैं जिसमें आप स्वयं को देख सकते हैं। प्रश्न यह है कि मनोवैज्ञानिक द्वैत हमारे भीतर क्यों है ? क्या वह इसलिए कि 'जो है' और 'जो होना चाहिए' के बीच हमेशा तुलना करना हमें बचपन से ही सिखाया गया है ? क्या ठीक है क्या गलत, क्या अच्छा है क्या बुरा, क्या नैतिक है क्या अनैतिक—यह संस्कार हमपर थोप दिया गया है। क्या इस द्वैत के निर्माण के पीछे हमारा यह विश्वास है कि अगर हम हिंसा, ईर्ष्या, द्वेष, क्षुद्रता आदि के विपरीत विकल्प के बारे में सोचें, तो हमें उनसे मुक्त होने में मदद मिलेगी ? इस तरह 'जो है' उसके विपरीत का उपयोग क्या हम उससे मुक्त होने के लिए करते हैं अथवा यह सचाई और हक़ीकत से महज एक पलायन है ?

क्या आप वास्तविकता से बचने के लिए विपरीत का उपयोग एक साधन के रूप में करते हैं, क्योंकि आप नहीं जानते कि वास्तविकता से कैसे निपटा जाये ? अथवा हज़ारों वर्षों की परंपरा और प्रचार ने आपको यह सिखाया है कि 'जो है' उसके विपरीत आप एक विकल्प, एक आदर्श खड़ा करें ताकि वर्तमान का आप मुकाबला कर सकें ? और आप सोचते हैं कि इस आदर्श की सहायता से 'जो है' उससे आप छुटकारा पा लेंगे। लेकिन यह बिलकुल असंभव है। आप शेष पूरे जीवन अहिंसा का उपदेश देते रहिये, लेकिन हर समय आप हिंसा का बीज ही बोते रहेंगे।

आपको कैसा होना चाहिए, आपके क्रियाकलाप कैसे होने चाहिए, इसकी एक धारणा आपके पास है। लेकिन वस्तुतः आपके क्रियाकलाप होते हैं इससे बिलकुल भिन्न। इस तरह आप देखते हैं कि सिद्धांत, आदर्श, धार्मिक आस्था, ये सब चीज़ें आडंबर और बेईमानी से भरे जीवन पर जाकर खत्म हो जाती हैं। आदर्श के कारण ही 'जो है'

उसका विपरीत निर्मित होता है। इसलिए अगर आप जानते हैं कि 'जो है' उसके साथ कैसे जिया जाये, तो विपरीत की कल्पना निरर्थक हो जाती है।

अपने आदर्श के समान या किसी और के समान बनने की कोशिश करना अंतर्विरोध, संघर्ष और अशांति के मुख्य कारणों में से एक है। एक अशांत मन चाहे जिस तल पर जो कुछ करे, वह अशान्त बना रहेगा। अशांति से उपजी कोई भी क्रिया और अधिक अशांति ही उत्पन्न करेगी। मैं इसे बिलकुल साफ़ और स्पष्ट देख रहा हूँ—जैसे मैं अपने समक्ष आसन्न एक शारीरिक खतरे को देख सकता हूँ। इसके बाद क्या होता है ? मैं अशांति की दिशा में कार्य करना बंद कर देता हूँ। इसलिए यह निष्क्रियता ही परम क्रियाशीलता बन जाती है।

आठ

मुक्ति—विद्रोह—एकाकीपन—निर्दोषता—हम जैसे हैं उसके साथ जीना

न तो दमन की यातनाओं से गुजर कर और न ही नियमबद्धता और विधि-विधान के कठोर अनुशासन द्वारा आज तक कोई सत्य तक पहुँचा है। सत्य तक पहुँचने के लिए मन को पूर्णतः स्वतंत्र और मुक्त होना चाहिए, जिसमें विकृति का एक धब्बा तक न हो।

लेकिन सबसे पहले हम स्वयं से पूछें कि क्या हम सचमुच मुक्त होना चाहते हैं। जब कभी हम मुक्ति की बात करते हैं, तो क्या हम संपूर्ण मुक्ति की बात कर रहे हैं या हमारा अभिप्राय केवल किसी असुविधाजनक, अवांछित या अप्रिय चीज़ से मुक्ति का है? हम अपने कष्टकर और कुरूप स्मृतियों एवं दुःखद अनुभवों से तो मुक्त होना चाहते हैं, पर सुख और संतोष पहुँचाने वाले अपने संबंधों, सिद्धांतों और विचारधाराओं को छाती से लगाये रहते हैं। आप एक को पकड़िये और दूसरा वहाँ मौजूद न हो, यह असंभव है जैसा कि हमने देखा है, सुख को दुःख से अलग किया ही नहीं जा सकता।

इसलिए हममें से प्रत्येक को यह निर्णय करना है कि हम पूर्णतः मुक्त होना चाहते हैं या नहीं। अगर हम चाहते हैं, तो हमें मुक्ति की प्रकृति और इसके स्वरूप को समझना पड़ेगा।

क्या मुक्ति का इतना ही अर्थ है कि आप किसी चीज़ से मुक्त हो जायें—किसी चिंता, किसी पीड़ा से मुक्त हो जायें? या मुक्ति अपने आपमें एक सर्वथा भिन्न चीज़ है? मान लीजिये, आप ईर्ष्या और जलन से मुक्त हो भी जाते हैं, लेकिन क्या यह मुक्ति एक प्रतिक्रिया नहीं है—और इसलिए यह मुक्ति है ही नहीं? आप किसी धार्मिक विश्वास या मत से आसानी से मुक्त हो सकते हैं—इसके विश्लेषण

द्वारा या इसको पूर्णतः ठुकराकर। लेकिन उस धार्मिक मत से मुक्ति की जो आपकी मंशा और प्रेरणा है, उसकी भी अपनी प्रतिक्रिया है। हो सकता है कि आप उस धार्मिक मत से इसलिए मुक्त होना चाहते हैं क्योंकि वह अब सुविधा और फैशन की बात नहीं रही। इसी तरह आप राष्ट्रीयता से भी मुक्त हो सकते हैं, क्योंकि अब आप अंतरराष्ट्रीयता में विश्वास करते हैं, या इसलिए कि अब आप महसूस करते हैं कि झंडा, नारा और व्यर्थ के कूड़े-कचड़े से भरे इस मूर्खतापूर्ण राष्ट्रवादी धारणा से चिपके रहने से कोई आर्थिक परिवर्तन नहीं आ सकता है। अथवा आप किसी आध्यात्मिक या राजनीतिक नेता के विरुद्ध प्रतिक्रिया कर सकते हैं जिसने आपको अनुशासन या विद्रोह के द्वारा मुक्ति का आश्वासन दे रखा है। इन सब चीज़ों को आप आसानी से परे हटा सकते हैं। लेकिन क्या ऐसे तर्कपूर्ण और बुद्धिमत्तापूर्ण निष्कर्षों का मुक्ति से कुछ लेना-देना है?

अगर आप कहते हैं कि आप अमुक चीज़ से मुक्त हो गये हैं, तो यह किसी चीज़ 'से' मुक्त होना एक प्रतिक्रिया है, जो पुनः एक दूसरी प्रतिक्रिया को जन्म देगी और जो बाद में नियम और विधि-विधान बनकर आप पर हावी हो जायेगी। इस तरह आप प्रतिक्रियाओं की एक जंजीर में जकड़ जायेंगे और हर प्रतिक्रिया को आप मुक्ति का एक प्रतीक समझेंगे। लेकिन यह मुक्ति नहीं है। यह थोड़े-बहुत परिवर्तन के साथ अतीत का ही सातत्य है जिससे आपका मन चिपका हुआ है।

आज का युवक समाज के विरुद्ध विद्रोह में खड़ा है। यह अपने आपमें एक अच्छी और ऊँची बात है। लेकिन विद्रोह मुक्ति नहीं है। क्योंकि जब आप विद्रोह करते हैं तो यह एक प्रतिक्रिया है। यह प्रतिक्रिया अपना एक अलग ढाँचा खड़ा करती है जिसमें आप उलझ जाते हैं। हालाँकि आप सोचते हैं कि यह एक नयी चीज़ है, लेकिन यह नयी है नहीं। यह एक भिन्न साँचे में ढली पुरानी चीज़ ही है। कोई भी सामाजिक या राजनीतिक विद्रोह निश्चित रूप से फिर पुरानी मध्यवर्गीय मानसिकता (बुर्जुआपन) की ओर लौट आयेगा।

मुक्ति का तभी जन्म होता है, जब आप देखते हैं और कुछ करते हैं—विद्रोह के द्वारा कदापि नहीं। वस्तुत: देखना ही करना है और यह क्रिया तत्क्षण जन्म लेती है। जब आप किसी ख़तरे को देखते हैं तब किसी सोच-विचार, बहस-विवाद और हिचकिचाहट की गुंजाइश नहीं रहती। उपस्थित ख़तरा स्वत: क्रिया को बाध्य कर देता है। इसलिए देखने का अर्थ है, करना और मुक्त हो जाना।

मुक्ति, मन की एक अवस्था है। यह किसी चीज़ 'से' मुक्ति नहीं है बल्कि उन्मुक्तता और स्वच्छंदता का एक बोध है। यह मुक्ति हर चीज़ पर प्रश्न और शंका खड़ा करती है। यह इतनी तीव्र, सक्रिय और प्रबल होती है कि यह हर प्रकार की निर्भरता, दासता, नियमबद्धता और स्वीकृति को उखाड़ फेंकती है। ऐसी मुक्ति का अर्थ है, निपट एकाकीपन में होना। हमारा मन ऐसी संस्कृति में पल-बढ़कर विकसित होता है जो पूर्णत: परिवेश और अपनी प्रवृत्तियों पर निर्भर और आश्रित है। तो क्या ऐसा मन उस मुक्ति को कभी पा सकता है जो पूर्ण एकाकीपन है। जिसमें न कोई परंपरा है, न कोई सत्ता है और न किसी का नेतृत्व है।

यह एकाकीपन मन की एक आंतरिक दशा है, जो किसी बाहरी उत्तेजना और किसी ज्ञान पर निर्भर नहीं है, और जो न किसी अनुभव और निष्कर्ष का नतीजा है। हममें से अधिकांश लोग आंतरिक रूप से कभी एकाकी नहीं होते। एकाकीपन और एकांत में अंतर है। एकाकीपन का अर्थ है एकमात्रता, जबकि एकान्त का अर्थ है शेष जगत से अपने को काटकर अलग कर लेना। हम सबको पता है कि यह अलग हो जाने का क्या अर्थ है—अपने चारों ओर एक दीवार खड़ी कर लेना ताकि कभी किसी का आघात न झेलना पड़े, अर्थात् अपने भीतर बंद होकर जीना, अथवा वैराग्य और संन्यास साधने की कोशिश करना जिसका अपना दंश और दर्द है, अथवा अपने ही मन के द्वारा बुने हुए विचारधारा के स्वप्नजाल में जीना। इन सबसे अलग, एकाकीपन बिलकुल ही भिन्न चीज़ है।

आप एकाकी कभी नहीं हो पाते, क्योंकि आप स्मृतियों से, संस्कारों से, बीते हुए कल के कोलाहल और शोरगुलों से भरे हैं। आपका मन उस कूड़े-कचरे से कभी खाली नहीं हो पाता जिसे इसने बड़े यत्न से जमा कर रखा है। एकाकी होने के लिए आपको अतीत के प्रति मर जाना पड़ेगा। इस तरह जब आप एकाकी होते हैं, बिलकुल एकाकी, अर्थात् जब आप किसी परिवार, किसी संस्कृति, किसी देश, किसी महादेश विशेष के नहीं होते। एक अपरिचित, अजनबी और बाहरी व्यक्ति होने का बोध और एहसास आपके अंदर रह जाता है। इस ढंग से जो व्यक्ति पूर्णतः एकाकी है वह निष्कलुष है, यही निष्कलुषता मन को दुःख से मुक्त कर देती है।

हम अपने साथ हज़ारों व्यक्तियों द्वारा कहे गये शब्दों को तथा बदनसीबी और बुरे दिनों की स्मृतियों को ढोते चलते हैं। इस सब को एकदम उतार कर अलग रख देने का अर्थ है एकाकी हो जाना। वह मन जो एकाकी है, वह न केवल निष्कलुष है बल्कि युवा भी है—समय या उम्र के हिसाब से नहीं। उम्र चाहे जो हो, वह सदा युवा, निर्दोष और जीवंत है। और केवल ऐसा मन उसे देख सकता है जो सत्य है और जिसे शब्दों में नहीं बाँधा जा सकता।

इस एकाकीपन और निःसंगता की अवस्था में आपको यह समझ आनी शुरू होती है कि आप जैसे हैं उसके साथ जीना कितना आवश्यक है—न कि जैसा आप थे या जैसा आप सोचते हैं कि आपको होना चाहिए। अब आप स्वयं से यह पूछिये कि क्या आप बिना किसी भय और कँपकँपी के, बिना झूठी शालीनता और संकोच के, बिना किसी निंदा या समर्थन के स्वयं को देख सकते हैं? जो वस्तुतः आप हैं, ठीक उसके साथ क्या आप जी सकते हैं?

जब आप किसी चीज़ के साथ अंतरंग और आत्मीय होकर जीते हैं तभी उसे आप सही अर्थों में समझना आरंभ करते हैं। लेकिन जब आप इसके अभ्यस्त और आदी हो जाते हैं—जैसे जब आप अपनी चिंता, ईर्ष्या इत्यादि के अभ्यस्त हो जाते हैं—तो आपका उसके साथ

जीना बंद हो जाता है। जव आपको किसी नदी या झरने के निकट रहने का मौका मिलता है, तो शुरू में आप बहते हुए जल के कलकल नाद को आनंदपूर्वक सुनते हैं, लेकिन कुछ ही दिनों बाद आपका ध्यान उस ओर जाना बंद हो जाता है। इसी तरह जब आप कोई नया चित्र अपने कमरे में टाँगते हैं जिसे आप प्रतिदिन देखते हैं, लेकिन एक सप्ताह बाद वह चित्र आपके ध्यान से बाहर हो जाता है। पेड़, पहाड़, घाटी ये सब कुछ ही दिनों वाद आपके लिए पुराने पड़ जाते हैं। और यही बात घटती है अपने परिवार, अपने पति, अपनी पत्नी के साथ। लोगों ने सही अर्थों में करीब-करीव जीना ही बंद कर दिया है। लेकिन ईर्ष्या-जलन, चिंता-फिक्र इत्यादि को समझने के लिए अगर आप इनके साथ जीना चाहते हैं तो इसका ध्यान रखें कि आप इनके कभी अभ्यस्त और आदी न हो जायें। इनको कभी स्वीकार न करें। हाँ, इनका ध्यान आप अवश्य रखें, इनकी देखभाल आप ज़रूर करें—जैसे आप नये लगाये गये पौधे की देखभाल करते हैं, धूप और आँधी से इसकी रक्षा करते हैं—उसी प्रकार आप इनका खयाल रखें। न तो इनकी निंदा करें और न तो इनका पक्ष लें। इनके प्रति प्रेमपूर्ण रहें। जब आप इनकी देखरेख करेंगे, तो सहज ही आप इनके प्रति प्रेम से भर जायेंगे। मेरा मतलब यह नहीं है कि चिंतित और ईर्ष्यालु होना तब आपके लिए प्रिय बात हो जायेगी—जैसा कि बहुत लोगों के साथ हुआ है—बल्कि इनके प्रति आप स्नेह, सहानुभूति और मैत्री का भाव रखेंगे, क्योंकि आप इन्हें देखना और समझना चाहते हैं।

हम और आप अच्छी तरह जानते हैं कि हम आंतरिक रूप से क्या हैं—मंद, मूढ़, ईर्ष्यालु, भयभीत तथा स्नेह और प्रेम से बिलकुल शून्य—भले ही बाहर हम इसी का गुण गायें। अपने से ऊबे हुए, आसानी से चोट खानेवाले, चापलूसी पसंद आदमी। तो क्या हम अपनी इन वास्तविकताओं और सचाइयों के साथ अर्थात् हम जो हैं, जैसे हैं, उसके साथ जी सकते हैं—बिना इसे स्वीकार या इनकार किये हुए? बिना उत्तेजित, उदास या रुग्ण हुए क्या हम इस सब का निरीक्षण कर सकते हैं?

अब स्वयं से हम एक और प्रश्न करें। इस मुक्ति और एकाकीपन को पाने के लिए तथा हम अपने आप में जो हैं उस आंतरिक अस्तित्व के पूरे ढाँचे के संपर्क में आने के लिए क्या समय का अन्तराल आवश्यक है ? अर्थात् क्या मुक्ति एक क्रमिक प्रक्रिया द्वारा ही उपलब्ध की जा सकती है ? स्पष्टतः नहीं, क्योंकि ज्यों ही आप समय का सवाल खड़ा करते हैं, आप समय के गुलाम होकर रह जाते हैं। आप धीरे-धीरे, क्रमिक रूप से मुक्त नहीं हो सकते। यह समय की बात ही नहीं है।

अगला प्रश्न यह है : क्या आपको इस मुक्ति का बोध और एहसास हो सकता ? अगर आप कहें कि मैं मुक्त हूँ, तो पक्का जानिये कि आप मुक्त नहीं हैं। यह उस व्यक्ति के समान हुआ जो कहता है, "मैं आनंदित हूँ।" जिस क्षण आप वस्तुतः आनंदित होते हैं, उस समय आपको पता भी नहीं चलता कि आप आनंदित हैं। जब तक आपको अपने आनंदित होने का बोध होता है तब तक वह आनंद स्मृति का रूप ले चुका होता है। इसलिए जब कोई कहता है, "मैं प्रसन्न और आनंदित हूँ" तो वह केवल अपनी उस स्मृति का संदर्भ दे रहा है जिसमें वह उस क्षण जी रहा है। तो मुक्ति केवल स्वतः और सहज रूप से घटित हो सकती है—आपके चाहने, तरसने और इच्छा करने से नहीं। न ही इस मुक्ति को आप अपनी कल्पनाओं में साकार करके उपलब्ध कर सकते हैं। मुक्ति के द्वार पर दस्तक देने के लिए मन को सीखना होगा कि समय के बंधन से मुक्त होकर जीवन को कैसे देखें, जो एक विराट् प्रवाह और गति है। मुक्ति चेतना की सीमाओं के पार शुरू होती है।

नौ

समय—दुःख—मृत्यु—ज्ञात से मुक्ति

एक अत्यंत अर्थपूर्ण कहानी के साथ मैं बातचीत की शुरुआत करना चाहता हूँ। सत्य का महान खोजी एक संन्यासी हुआ करता था। एक दिन अचानक उसका सामना परमात्मा से हो गया, तो वह पूछ बैठा, "सत्य क्या है ? कृपया इस संबंध में मुझे बताइये।" अब बेचारा परमात्मा क्या करे, तो उसने एक युक्ति निकाली और कहा, "भाई मेरे, आज बड़ी गरमी है, इसलिए मुझे बहुत प्यास लगी है। कृपया पहले मुझे एक गिलास ठंडा पानी कहीं से लाकर पिलाओ।" वह संन्यासी पानी की खोज में निकला। और रास्ते में जो पहला घर पड़ा, उसके द्वार पर दस्तक दी। एक अत्यंत सुंदर स्त्री ने द्वार खोला। संन्यासी तत्काल उस स्त्री के प्रेम में पड़ गया। दोनों ने शादी कर ली और फिर उनके कई बच्चे हुए। एक दिन मूसलाधार बारिश हुई। कई दिनों तक लगातार भीषण वर्षा होती रही और पानी थमने का नाम नहीं लेता था। नदी-तालाब, गली-कूचे सब पानी से भर गये। जब घर-द्वार पानी में डूबने और बहने को हुआ, तो उस संन्यासी-गृहस्थ ने बच्चों को अपने कंधों पर लादकर पत्नी का हाथ पकड़ लिया। लेकिन जब पानी की तेज़ धारा ने उन्हें बहा ले जाना चाहा तो वह चिल्लाया, "हे प्रभु ! बचाओ !" परमात्मा ने उपस्थित होकर पूछा—"मैंने जो वह पानी का गिलास माँगा था, वह कहाँ है ?"

यह एक अच्छी कहानी मानी जा सकती है, क्योंकि यह बताती है कि हम किस तरह समय की भाषा में ही सोचते हैं। मनुष्य समय के सहारे ही जिये चला जाता है और पलायन के एक प्रिय साधन के रूप में भविष्य का आविष्कार कर लेता है।

हम सोचते हैं कि जैसे-जैसे समय आगे बढ़ेगा, हममें रूपांतरण आता जायेगा, हमारे भीतर थोड़ी-थोड़ी व्यवस्था भी आती जायेगी

और दिन-प्रति-दिन वढ़ती जायेगी। लेकिन व्यवस्था या शांति समय की देन नहीं है। अतः हमें क्रमिकता की भाषा में सोचना बंद कर देना चाहिए। शांत होने के लिए कल का कोई अस्तित्व नहीं है। शांत और व्यवस्थित केवल अभी हुआ जा सकता है—इसी क्षण।

जब खतरा आपके सामने हो तो समय लुप्त हो जाता है। तव वहाँ क्रिया तत्काल होती है। लेकिन हम अपनी वहुत सारी समस्याओं के खतरे को नहीं देखते, इसलिए उनपर काबू पाने का एकमात्र साधन हम समय को वना लेते हैं। लेकिन समय सबसे बड़ा धोखेबाज़ है, क्योंकि अपने भीतर रूपांतरण लाने में वह हमारी कोई सहायता नहीं करता। समय तो एक प्रवाह और गति है जिसे आदमी ने अतीत, वर्तमान और भविष्य के रूप में विभाजित कर रखा है। जब तक वह इस विभाजन को कायम रखे हुए है, तब तक वह संघर्ष और द्वंद्व में रहेगा।

सीखने के लिए क्या समय की आवश्यकता है? या यह समय की बात ही नहीं है? क्या इन हज़ारों वर्षों में हम यह सीख पाये हैं कि एक-दूसरे की हत्या और नफ़रत के बदले हम एक बेहतर ढंग से आपस में जी सकते हैं? कदापि नहीं। इसीलिए हमारा जीवन इतना विकट और वाहियात है। अगर हमें इस जीवन का निदान और समाधान करना है, तो समय की समस्या को समझना और हल करना अत्यंत आवश्यक है।

हम मन के ताज़ापन और निर्दोषता की छानबीन पहले ही कर चुके हैं। हम यह ध्यान में रखें कि एक ताजा और निर्दोष मन ही समय को सही-सही देख और समझ सकता है। अपनी समस्याओं की सही समझ नहीं होने के कारण हम इसकी भूलभूलैया में भटक गये हैं। अब अगर कोई घने जंगलों में भटक गया हो, तो वह पहला काम क्या करता है? पहले तो वह जहाँ-का-तहाँ रुक जाता है। क्या ऐसा नहीं है? फिर वह अपने चारों ओर नज़र घुमाकर देखता है। लेकिन आप जीवन में जितना ही उलझ और भटक जाते हैं उतनी ही आपकी

भाग-दौड़ भी वढ़ जाती है और आप वदहवास होकर चारों ओर खोजने लगते हैं। दूसरे भटके हुए लोगों से पूछताछ करने लगते हैं, उनके पीछे दौड़ने लगते हैं। अगर कोई मुझसे पूछे, तो मैं यही कहूँगा कि सबसे आवश्यक चीज़ यह है कि हम आंतरिक रूप से अर्थात् अपने भीतर एकदम ठहर जायें, बिलकुल रुक जायें। जव आप आंतरिक रूप से, मनोवैज्ञानिक रूप से ठहर जाते हैं, तो आपका मन पूर्णतः शांत और स्वच्छ हो जाता है। तभी वस्तुतः आप समय की इस समस्या को सही-सही देख सकते हैं।

समय के आयाम में ही सारी समस्याओं की जड़ें फैली हैं—अर्थात् हमारा किसी प्रश्न का सामना अधूरे रूप से करना। प्रश्न के साथ हमारा यह अधूरा संपर्क ही समस्याओं को पैदा करता है। जव हम किसी चुनौती का खंड-खंड सामना करते हैं, केवल आंशिक रूप से, या जब हम इससे पलायन कर जाने का प्रयास करते हैं—अर्थात् जव हम पूरे ध्यान से उस चुनौती का सामना नहीं करते, तो हम समस्या उत्पन्न कर लेते हैं। यह समस्या तब तक कायम रहती है जव तक इस ओर हमारा ध्यान और होश अधूरा होता है, जव तक इसका हल हम आज या कल पर टालते चले जाते हैं।

क्या आपने कभी सोचा है कि समय क्या है? घड़ी का समय नहीं, न ही वह समय जिसका बोध कैलेन्डर और पंचांग से होता है—वल्कि मनोवैज्ञानिक समय। यह सोचने और करने के बीच की दूरी है। अर्थात् यह विचार और क्रिया के बीच का अंतराल है। स्पष्टतः विचार का आधार आत्मरक्षा है—अर्थात् सुरक्षित और सही-सलामत वने रहने का भाव। क्रिया का अर्थ है, जो तत्क्षण हो—अतीत और भविष्य से बिना बँधे हुए। क्रिया केवल वर्तमान में ही हो सकती है। यह कैसी होगी, इसका स्वरूप क्या होगा, यह विलकुल अज्ञात और अनिश्चित है। इसलिए यह हमें ख़तरनाक मालूम पड़ती है। वस्तुतः क्रिया को छोड़कर हमने एक विचार को पकड़ लिया हैं और हमें लगता है कि इसीमें हमारी हिफ़ाज़त और भलाई है।

यह सब आप अपने भीतर देखें। क्या ठीक है और क्या गलत, इसकी एक धारणा आपके पास है। समाज के बारे में और अपने बारे में भी आपने एक सैद्धांतिक धारणा बना रखी है। इन्हीं धारणाओं के अनुसार आपके सारे कार्य होते हैं। इसलिए आपकी क्रिया आपकी धारणा के सदृश होना चाहेगी या अधिक से अधिक उसके निकट पहुँचना चाहेगी। यहाँ संघर्ष अवश्यंभावी है। इस तरह पहले धारणा है, फिर एक अंतराल है, अंत में क्रिया है। इसी अंतराल में समय का पूरा विस्तार है। और यह अंतराल अनिवार्य रूप से विचार है। जब आप सोचते हैं कि कल आप सुखी और आनंदित होंगे, तो वहाँ आपने अपनी एक प्रतिमा निर्मित कर ली और यह आशा भी कि कुछ समय बाद एक निश्चित फल की प्राप्ति होगी। विचारसरणी के पूरे क्रम को इस तरह समझा जा सकता है—विचार पहले किसी चीज़ को देखता है, फिर उसे पाने की इच्छा करता है। इस इच्छा को बहुत सारे विचारों से सातत्य और शक्ति मिलती है, और अंत में वह विचार कहता है, "कल मैं सुखी और आनंदित होऊँगा। कल मुझे सफलता मिलेगी। कल यह दुनिया एक सुंदर-सी जगह होगी।" इस तरह विचार एक अंतराल पैदा करता है, और यही अंतराल समय है।

अब हमें यह पूछना है : क्या हम समय को एक विराम और ठहराव दे सकते हैं? क्या हम इतनी समग्रता से जी सकते हैं कि विचार को बीते हुए या आनेवाले कल के बारे में सोचने का अवसर ही न मिले। क्योंकि समय ही तो दुःख है। आपने कल या हज़ारों कल पहले किसी से प्रेम किया था और वह आपका प्रेमी या आप की प्रेयसी अब नहीं रही। लेकिन उसकी स्मृति अभी तक बनी हुई है। आप उसके साथ बिताये हुए दर्द और सुख के क्षणों को याद कर रहे हैं। आप पीछे मुड़कर देख रहे हैं, बची-खुची अपनी आशाओं और इच्छाओं के बारेमें सोच रहे हैं और रह रहकर आप खेद और पश्चात्ताप से भर उठते हैं। इस तरह विचार बार-बार पीछे, अतीत की ओर लौटकर दुःख को जन्म दे रहा है और समय को सातत्य दे रहा है।

जब तक विचार द्वारा उत्पन्न समय की यह दूरी अर्थात् समय का अंतराल है तब तक दुःख रहेगा। तब तक भय कायम रहेगा। इसलिए व्यक्ति को स्वयं से पूछना चाहिए : क्या समय के इस अंतराल का कभी अंत हो सकता है ? अगर आप पूछते हैं, "इसका अंत हो जायेगा न", तो अधिक संभावना यही है कि आप पहले ही एक धारणा बना चुके हों और इसलिए अब आप सफलता और उपलब्धि की भाषा में सोच रहे हैं। इस प्रकार आपने अंतराल निर्मित कर लिया और समय के दुष्चक्र में आप एक बार फिर फँस गये।

अब हम मृत्यु के प्रश्न को लें। अधिकांश लोगों के लिए मृत्यु एक विकराल समस्या बनी हुई है। मृत्यु तो आप जानते ही हैं, यह हर रोज आपके संग साथ चल रही है। क्या आप इसका साक्षात् और सामना इतनी समग्रता से कर सकते हैं कि आप इसे एक समस्या का रूप न दे पायें। इस प्रकार से इसका साक्षात् और सामना करने के लिए यह आवश्यक है कि इसके बारे में आपने जो आशा, विश्वास और भय पाल रखे हैं, उन सबों का अंत हो जाये। आप इस असाधारण चीज़ का सामना एक निष्कर्ष, एक प्रतिमा, एक पूर्वकल्पित चिंता के साथ करते रहे हैं। जिसका अर्थ हुआ, आपके और मृत्यु के बीच समय का एक परदा पड़ा रह गया है। आप उसका सीधा और प्रत्यक्ष सामना नहीं कर रहे हैं।

समय द्रष्टा और दृश्य के बीच की दूरी है। इसको इस प्रकार समझें—द्रष्टा यानी आप उस चीज़ का सामना करने से डरते हैं जिसे मृत्यु कहा जाता है। मृत्यु है क्या चीज़, यह आपको पता नहीं है। आपने इस संबंध में केवल आशाएँ और हर प्रकार के सिद्धांत इकट्ठे कर रखे हैं। आप पुनर्जन्म या पुनर्जीवन में विश्वास करते हैं या आप आत्मा के अस्तित्व में विश्वास करते हैं, जो देश और काल से परे एक आध्यात्मिक सत्ता मानी जाती है। अब प्रश्न यह है कि क्या आपने स्वयं यह खोज की है कि आत्मा जैसी कोई चीज़ है भी या नहीं ? अथवा यह केवल एक विश्वास या धारणा मात्र है जो कई पीढ़ियों से होती

हुई आपके पास पहुँच गयी है ? क्या विचार से परे किसी स्थायी और निरंतर सत्ता का कोई अस्तित्व है ? अगर विचार इसके बारे में सोच सकता है, तो इसका अर्थ है कि यह विचार के जगत की ही कोई चीज़ है, और इसलिए यह स्थायी नहीं हो सकती। विचार के जगत और सीमाओं के भीतर कुछ भी स्थायी नहीं है। कुछ भी स्थायी नहीं है—यह बोधपूर्वक जानना एक असाधारण महत्त्व की घटना है। तब मन मुक्त हो जाता है। तब आप देख सकते हैं। उस देखने में असीम और अपूर्व आनंद है।

आप अज्ञात से भयभीत नहीं हो सकते। अज्ञात का तो आपको पता ही नहीं है। इसलिए भय किससे ? मृत्यु एक शब्द है। यह शब्द और इससे बनी मृत्यु की प्रतिमा ही भय पैदा करती है। अपने मन से मृत्यु की प्रतिमा को हटाकर क्या आप मृत्यु को देख-समझ सकते हैं ? क्योंकि जब तक मृत्यु की प्रतिमा है और उससे जन्म लेता विचार है, तब तक इनके कारण भय बना ही रहेगा। तब प्रायः या तो आप मृत्यु के भय को तर्कसम्मत बना लेते हैं और इस अटल एवं अवश्यंभावी सत्य के विरुद्ध प्रतिरोध खड़ा कर लेते हैं या आप मृत्यु के भय से बचने के लिए असंख्य विश्वासों को गढ़ लेते हैं। इस तरह आपके और आप जिससे भयभीत हैं उस चीज़ के बीच एक दूरी, एक अंतर पैदा हो जाता है। देश और काल अर्थात् स्थान और समय के इन अंतरालों में संघर्ष की उपस्थिति निश्चित है, जिसका अर्थ है—भय, चिंता और आत्मनिंदा। विचार, जो मृत्यु के भय का कारण है, कहता है, "हम मृत्यु को अधिक से अधिक समय तक रोकने का प्रयास करें, इसको टाल दें, इससे बचकर रहें, जहाँ तक संभव हो इसे अपने से दूर ही रखें, इसके बारे में सोचें तक नहीं"—लेकिन तब भी तो आप उसी के बारे में सोच रहे हैं। जब आप कहते हैं, "मैं इसके बारे में सोचूंगा ही नहीं" तो आप पहले ही सोच चुके होते हैं कि इससे कैसे बचा जाये। आप मृत्यु से भयभीत हैं क्योंकि आपने इसे स्थगित कर रखा है।

हमने जीवन को मृत्यु से अलग कर रखा है। जीने और मरने के बीच का यह अंतराल ही भय है। यह अंतराल अर्थात् समय भय से बनता है। जिसे हम जीना कहते हैं, वह हमारा प्रतिदिन का दुःख, यातना, अपमान एवं उलझन है, और इसमें शायद ही कभी, क्षणभर के लिए उस आनंद के सागर की ओर कोई खिड़की, कोई झरोखा खुलता है। इसे ही हमने जीना मान लिया है। हम मरने से डरते हैं जो वस्तुतः इस दुर्दशा और दुर्गति का अंत है। अज्ञात का सामना करने से हम कहीं अच्छा समझते हैं ज्ञात से चिपके रहना-- ज्ञात अर्थात् हमारा घर, हमारा फर्नीचर और सामान, हमारा परिवार, हमारी नौकरी, हमारा पेशा, हमारा ज्ञान, हमारा चरित्र, हमारा नाम और यश, हमारे देवी-देवता, हमारा अकेलापन-- यानी सीमित ढाँचे वाली और कटुता से भरी वह छोटी-सी दुनिया जिसके भीतर हम सारा जीवन एक कोल्हू के बैल की तरह चक्कर काटते रह जाते हैं।

हम सोचते हैं कि अभी तो हमें केवल जीना है, और मरना तो एकदम सुदूर भविष्य की बात है। लेकिन हमने इस पर कभी शंका और संदेह नहीं किया है कि प्रतिदिन का यह संघर्ष से भरा जीवन जीना भी कोई जीना है! हमारी उत्सुकता तो केवल इस बात में है कि पुनर्जन्म होता है कि नहीं, आत्मा अमर है इसका प्रमाण कैसे जुटाया जाये। चमत्कारों और सिद्धियों का प्रदर्शन करनेवाले व्यक्ति की ही हमें तलाश रहती है। अगर कोई यहीं बैठे-बैठे बहुत दूर की घटनाओं को जान लेने का दावा करे, तो हम तुरंत प्रभावित हो जाते हैं। लेकिन हम यह कभी नहीं पूछते, कभी भी नहीं, कि हम कैसे जियें। प्रतिदिन आनंद और उल्लास के साथ एवं सौंदर्य से भरकर कैसे जियें। अपने सभी दुःख और निराशा समेत यह जीवन जैसा है उसे हमने स्वीकार कर लिया है, हम इसके अभ्यस्त हो चुके हैं, और मृत्यु को हम एक ऐसी अप्रिय चीज़ मानते हैं जिसे हर हालत में अपने से दूर ही रखना चाहते हैं। लेकिन अगर हम जीना सीख लें, तो हम पायेंगे कि मृत्यु और जीवन में अद्भुत समानता है। आप बिना मरते

हुए जी नहीं सकते। अगर आप हर पल, हर मिनट मनोवैज्ञानिक रूप से नहीं मरते हैं, तो आपका जीना कोई जीना नहीं है। यह कोई बौद्धिक विरोधाभास नहीं है। इतनी पूर्णता और समग्रता से जीना कि हर दिन मानो एक नये सौंदर्य का अनुभव हो। इसके लिए बीते हुए कल की हर चीज़ के प्रति मर जाना होगा। अन्यथा आप केवल यांत्रिक रूप से जीते रहेंगे। और एक यांत्रिक मन कभी नहीं जान सकता कि प्रेम क्या है, मुक्ति क्या है।

हममें से अधिकांश लोग मरने से डरते हैं, क्योंकि हमें पता ही नहीं है कि जीने का अर्थ क्या है। हम जीना नहीं जानते, इसलिए हम मरना भी नहीं जानते। जब तक हम जीवन से भयभीत हैं, तब तक हम मृत्यु से भी भयभीत रहेंगे। जो व्यक्ति जीवन से भयभीत नहीं है, वह पूर्णतः असुरक्षित होने से भी भयभीत नही होता, क्योंकि वह आंतरिक रूप से, मनोवैज्ञानिक रूप से अच्छी तरह समझता है कि सुरक्षा तो है ही नहीं। जब कोई सुरक्षा नहीं होती, तो एक अनंत विस्तार और फैलाव होता है—और तब जीवन और मृत्यु एक ही चीज़ है। जो व्यक्ति बिना संघर्ष के जीता है, जो सौंदर्य और प्रेम से भरकर जीता है, उसे मृत्यु का भय नहीं होता, क्योंकि प्रेम का अर्थ ही है मर जाना।

अगर आप हर ज्ञात चीज़ के प्रति—आपका परिवार, आपकी स्मृति, अब तक के आपके अनुभव—अर्थात् आपके ज्ञान में जो कुछ है अगर आप उसके प्रति मर जायें, तो मृत्यु आपको शुद्ध और निर्मल कर देती है। मानो यह कायाकल्प और पुनर्जीवन की एक प्रक्रिया हो। तब मृत्यु निष्कलुषता को जन्म देती है और केवल निष्कलुष व्यक्ति ही आवेग और ऊर्जा से भरा होता है न कि वह व्यक्ति जो किसी विश्वास को पकड़कर बैठा है या वह जो जानना चाहता है कि मरने के बाद क्या होता है।

मरने के बाद क्या होता है यह जानने का वस्तुतः एक ही उपाय है और वह यह कि आप मर जायें। यह कोई मज़ाक नहीं है।

आपको मरना ही चाहिए—शारीरिक रूप से नहीं बल्कि मनोवैज्ञानिक रूप से, गहराई में अपने भीतर - मरना उन चीज़ों के प्रति जिन्हें अब तक आपने अपने हृदय में संजोये रखा है और उन चीज़ों के प्रति भी जिनके प्रति आप कटुता से भरे हैं। अगर आप सहजता से, बिना किसी जोर-जबरदस्ती या दलील के अपने बड़े-से-बड़े या छोटे-से-छोटे सुखों में से किसी एक के प्रति भी मर जायें, तो आप जान जायेंगे कि मरने का क्या अर्थ है। मरने का अर्थ है मन का पूर्णतः शून्य और खाली हो जाना—अपनी प्रतिदिन की आकांक्षाओं, सुखों और दुःखों से खाली हो जाना। मृत्यु एक रूपांतरण, एक नवीनीकरण है। वहाँ विचार का अस्तित्व नहीं होता, क्योंकि विचार पुराना है। जहाँ मृत्यु है वहीं कुछ नया जन्म लेता है। ज्ञात से मुक्ति ही मृत्यु है। और तब आपका जीना आरंभ होता है।

दस

—प्रेम—

परस्पर संबंधों को स्थायी और सुरक्षित बनाये रखने की चाह अनिवार्य रूप से दुःख और भय उत्पन्न करती है। सुरक्षा की यह खोज असुरक्षा को जन्म देती है। क्या आपने अपने किसी भी परस्पर संबंध में यह सुरक्षा पायी है? किसी में भी? खासकर प्रेम संबंधों में अधिकांश लोग यह सुरक्षा चाहते हैं—कि हम एक-दूसरे को सदा प्रेम करते रहें। लेकिन जहाँ दोनों में से प्रत्येक अपनी ही सुरक्षा और अपना ही रास्ता खोज रहा है, वहाँ क्या प्रेम हो सकता है? हमें प्रेम इसीलिए नहीं मिलता क्योंकि हम प्रेम करना नहीं जानते।

प्रेम क्या है? इस शब्द का दुरुपयोग कर इसे इतना भ्रष्ट कर दिया गया है कि सच पूछिये तो मेरी इच्छा ही नहीं होती कि इस शब्द का प्रयोग भी करूँ। जहाँ देखिये हर कोई प्रेम की चर्चा कर रहा है—हर पत्रिका, हर अखबार, हर धर्मप्रचारक प्रेम पर बोले जा रहा है। मुझे अपने देश से प्रेम है, मुझे अपने राजा से प्रेम है, मुझे इस पुस्तक से प्रेम है, मुझे उस पर्वत से प्रेम है, मुझे सुख से प्रेम है, मैं अपनी पत्नी से प्रेम करता हूँ, मुझे ईश्वर से प्रेम है। क्या प्रेम एक विचार है, एक धारणा है? अगर हाँ, तब तो इसका अर्थ हुआ कि प्रेम पैदा किया जा सकता है, इसे पाला-पोसा और सँवारा जा सकता है, कल्पना में संजोया जा सकता है, इच्छानुसार इधर से उधर घुमाया-फिराया जा सकता है, मन के मुताबिक तोड़ा-मरोड़ा जा सकता है। जब आप कहते हैं कि आप ईश्वर से प्रेम करते हैं, तो इसका क्या अर्थ है? इसका अर्थ है कि आप अपनी ही कल्पना के फैलाव और प्रक्षेपण को प्रेम करते हैं। अपने ही विचारों, भावों और कपोलकल्पनाओं को अपने मन के अनुसार या एक प्रतिष्ठित परंपरा और मान्यता के अनुसार धार्मिकता का लिबास पहनाकर उसे प्रेम

करते हैं। इसलिए यह कहना कि मैं ईश्वर से प्रेम करता हूँ, बकवास के सिवा और कुछ नहीं है। जब आप ईश्वर की पूजा करते हैं, तो वस्तुतः आप अपनी ही पूजा कर रहे हैं—और यह प्रेम नहीं है।

यह मानवीय वस्तु जिसे प्रेम कहा जाता है वह चूँकि हमारी पकड़ में नहीं आता, इसलिए हम सिद्धांतों में भटक जाते हैं। कल्पनाओं और भावनाओं में वहक जाते हैं। प्रेम मनुष्य की सभी समस्याओं, कठिनाइयों और पीड़ाओं का परम समाधान वन सकता है। इसलिए हम कैसे पता लगायें कि प्रेम क्या है? केवल प्रेम की परिभाषा देकर? धर्म और संप्रदाय एक ढंग से परिभाषा देते हैं, समाज दूसरी तरह से और इस प्रकार प्रेम अनेक भिन्नताओं और विकृतियों का शिकार हो जाता है। क्या प्रेम से हमारा तात्पर्य है किसी की पूजा करना, किसी का संग-साथ और दोस्ती, किसी के साथ एक बिस्तर पर सोना, भावनात्मक आदान-प्रदान? प्रेम का सामान्यतः यही तौर-तरीका और ढंग-ढर्रा रहा है। यह इतना अधिक व्यक्तिगत और ऐन्द्रिय सुखों तक सीमित हो गया है कि धर्मों को घोषणा करनी पड़ी कि प्रेम इस सब से वढ़कर और भी बहुत कुछ है। जिसे मानवीय प्रेम कहा जाता है उसमें उन्होंने देखा कि वहाँ केवल सुख, प्रतिस्पर्धा, ईर्ष्या है, दूसरे को वाँधने की, उसपर अधिकार और मालकियत जताने की एवं उसके विचारों और भावनाओं में दखल देने की प्रवृत्ति है। और प्रेम के इस विकृत और जटिल रूप को देखते हुए उन्होंने कहा कि इस सब से अलग प्रेम का एक भिन्न रूप भी हो सकता है, जो भ्रष्ट न हो बल्कि जो अछूता, दिव्य और सुंदर हो।

पूरे संसार में तथाकथित साधक और संत पुरुषों ने जोर देकर कहा है कि औरत को देखना सर्वथा गलत काम है। उनका कहना है कि अगर आप कामवासना का सुख लूटते हैं, तो आप परमात्मा के निकट भी नहीं आ सकते। इसलिए वे स्वयं इसपर नियंत्रण और विजय प्राप्त करने में लगे रहते हैं। किन्तु तथ्य यही है कि कामवासना

निरंतर उन्हें खाये जा रही है। संसार की सुन्दरता उनके भीतर वासना जगाती है, तो वे अपनी आँखें तक फोड़ लेते हैं। उनमें से कुछ लोग तथाकथित साधना में आगे बढ़ने के लिए अपनी जीभ तक काट लेते हैं। इस तरह वे जगत की सुंदरता और जीवन की सहजता की हत्या कर देते हैं। ऐसे लोग हृदय और मन से बिलकुल कंगाल हो चुके हैं, मर चुके हैं। ये शुष्क इंसान हैं। इन्होंने सौंदर्य को अपने जीवन से निष्कासित कर दिया है, क्योंकि सौंदर्य कहीं न कहीं औरत से भी जुड़ा है।

क्या प्रेम को सांसारिक अथवा पवित्र, मानवीय अथवा दिव्य की कोटियों में बाँटा जा सकता है? या प्रेम केवल प्रेम है? क्या प्रेम किसी एक के प्रति ही होता है, बहुतों के प्रति नहीं? अगर मैं कहूँ, "मैं आपसे प्रेम करता हूँ," तो क्या यह प्रेम केवल आपके लिए है, दूसरों के लिए नहीं? क्या प्रेम वैयक्तिक है या अवैयक्तिक? नैतिक है या अनैतिक? पारिवारिक है या सामाजिक? अगर आपका प्रेम पूरी मानव जाति से है, तो क्या आपको व्यक्ति विशेष से प्रेम हो सकता है? क्या प्रेम भावुकता है? क्या इसका संबंध भावनाओं से है? क्या प्रेम सुख और वासना है? ये सभी प्रश्न और शंकाएँ इस बात का संकेत देती हैं कि प्रेम के बारे में हमारे कुछ निश्चित विचार और धारणाएँ हैं। यह ऐसा होना चाहिए, वैसा नहीं होना चाहिए, अर्थात् हमारी संस्कृति द्वारा विकसित एक संहिता या नमूने के अनुसार होना चाहिए।

तो यह खोजबीन करने के लिए कि प्रेम क्या है, सबसे पहले हमें इस पर जमी हुई धूल-गर्द की उस परत को साफ करना होगा जो सदियों-सदियों में आदर्शों और विचारधाराओं ने जमा की है— कि प्रेम ऐसा होना चाहिए, प्रेम ऐसा नहीं होना चाहिए; यह ऐसा है, लेकिन इसे ऐसा होना चाहिए। जब इस ढंग से हम चीज़ों को देखते हैं, तो यह महज जीवन के तथ्यों से आँख चुराने की चालबाजी बन कर रह जाती है।

तो अब मैं कैसे मालूम करूँ कि यह लौ और लपट क्या है जिसे हम प्रेम कहते हैं। यह नहीं कि दूसरों पर इसे मैं कैसे व्यक्त करूँ। बल्कि अपने-आपमें प्रेम का क्या अर्थ है? सबसे पहले तो धर्म, समाज, शास्त्र, मेरे माता-पिता और दोस्तों ने इसके बारे में जो कुछ कहा है, उसे मैं अस्वीकार कर दूँगा, क्योंकि अपने लिए मैं स्वयं यह खोजना चाहता हूँ कि प्रेम क्या है। यह एक बहुत बड़ा प्रश्न है। जगत का हर व्यक्ति अपने-अपने ढंग से इसे हल करने में लगा है। हजार ढंग से इसकी परिभाषा की गयी है और शायद मैंने भी उनमें से किसी एक परिभाषा को अपने प्रेम का नमूना बना लिया है, जो मेरी पसंद या सुख-सुविधा के अनुकूल है। इसलिए प्रेम वस्तुतः क्या है, यह समझने के लिए क्या मुझे सबसे पहले स्वयं को अपने ही झुकावों और पूर्वाग्रहों से मुक्त नहीं कर लेना चाहिए? मैं भ्रमित हूँ। मैं अपनी इच्छाओं और वासनाओं का मारा हूँ। इसलिए मैं स्वयं से कह रहा हूँ, "पहले तुम अपना भ्रम और उलझन दूर कर लो। प्रेम क्या है, यह शायद तुम तभी अनुभव कर सकोगे जब तुम्हें पता चल जायेगा कि प्रेम क्या नहीं है।"

सरकार कहती है, "अगर तुम्हें अपने देश से प्रेम है तो जाओ, मरो और मारो।" क्या यह प्रेम है? धर्म कहता है, "अगर तुम्हें परमात्मा से प्रेम है, तो छोड़ो कामवासना को।" क्या यह प्रेम है? क्या प्रेम इच्छा और आसक्ति है? आँख मूँदकर 'नहीं' मत कहें। हममें से अधिकांश लोगों के लिए यही प्रेम है—वासना और सुख। सुख जो इन्द्रियों द्वारा प्राप्त किया जाता है। सुख जो कामवासना के आकर्षण और इसकी पूर्ति से मिलता है। मैं कामवासना का विरोधी नहीं हूँ, लेकिन कामवासना है क्या, इसे हमको समझना चाहिए। कामवासना के सुख में होता क्या है? यही कि वहाँ आपका 'स्व' पूर्णतः विसर्जित हो जाता है। वहाँ आपका 'मैं' तिरोहित हो जाता है। इसलिए वहाँ आपकी समस्या, चिंता और परेशानी, कुछ भी नहीं बचती। लेकिन यह सब क्षणभर के लिए ही, फिर आप उपद्रव से भरी अपनी पुरानी दुनिया में लौट आते हैं। कामवासना के इस सुख को आप बार-बार दोहराना

चाहते हैं ताकि आप आत्म-विस्मृति की उस स्थिति में पुनः पहुँच जायें। हर आदमी यह सोचता है कि वह अपनी पत्नी से प्रेम करता है। इस प्रेम में कामवासना का सुख जुड़ा हुआ है तथा इस बात का सुख कि घर में खाना बनाने के लिए, आपके बच्चों की देखभाल करने के लिए कोई है। आप अपनी पत्नी पर निर्भर रहते हैं, उसने अपना शरीर और अपनी भावनाएँ आपको सौंप रखी हैं। संकट के समय वह आपको प्रेरणा और प्रोत्साहन देती है। इस सब से आपको अपनी सुरक्षा और सुखद स्थिति का बोध होता है। आपको लगता है कि सब कुछ ठीक-ठाक है, कुशल-मंगल है, सुख-चैन की बंसी बज रही है। एक दिन वह आपसे ऊब जाती है और आपको छोड़कर किसी और के साथ चली जाती है। तब आप अपना पूरा संतुलन खो बैठते हैं। आप ईर्ष्या से जल उठते हैं। यह ईर्ष्या आपकी भावनात्मक चोट, चिंता, घृणा और हिंसा के रूप में व्यक्त होती है। तब क्या आप कह सकते हैं कि अब भी आप उससे प्रेम करते हैं ? तो जब भी कोई व्यक्ति पत्नी को अपने प्रेम का विश्वास दिलाता है तो दरअसल वह यह कह रहा है, "जब तक तुम मेरी बनकर हो मैं तुम्हें प्रेम करता रहूँगा, लेकिन जिस क्षण तुम मेरी नहीं हो, मैं तुमसे नफरत करने लगूँगा। जब तक मुझे इस बात का भरोसा है कि तुम मेरी कामवासना और अन्य प्रकार की आवश्यकताओं को पूरा कर सकती हो, मेरा प्रेम तुम्हारे लिए बना रहेगा, लेकिन जिस क्षण तुम मेरी माँगों की पूर्ति नहीं कर सकती, उसी क्षण मैं तुम्हें चाहना बंद कर दूँगा।" इस तरह आप दोनों के बीच सदा एक विरोध और अलगाव बना रहता है। और जब आप किसी दूसरे से पृथक् और अलग महसूस करते हैं, तो वहाँ प्रेम कहाँ ! लेकिन अगर आप अपनी पत्नी के साथ इस तरह जी रहे है कि विचार आपके भीतर परस्पर विरोधी स्थितियाँ और अनंत लड़ाइयाँ नहीं पैदा करता, तब शायद—शायद—आप जान सकेंगे कि प्रेम क्या है। तब आप और आपकी पत्नी दोनों पूर्णतः मुक्त होंगे। लेकिन अगर आप अपने सारे सुख के लिए उस पर निर्भर हैं, तो आप उसके दास और गुलाम हैं। इसलिए अगर कोई व्यक्ति सचमुच प्रेम करना चाहता

है, तो वह इस बात का ख्याल रखे कि वहाँ मुक्ति होनी चाहिए—केवल दूसरे से नहीं बल्कि स्वयं से भी।

इस प्रेम में जहाँ 'किसी की होकर रहना' या 'किसी का बनकर जीना' वाली बात है अर्थात् जब मनोवैज्ञानिक तल पर आप अपना आहार और पोषण दूसरे से पाते हैं और उस पर निर्भर रहते हैं, तो वहाँ केवल चिंता, अपराध-भाव, ईर्ष्या और भय होता है। और जब तक भय है तब तक प्रेम का अस्तित्व नहीं हो सकता। दुःख से बोझिल मन कभी नहीं जान पायेगा कि प्रेम क्या है। भावुकता का प्रेम से कुछ लेना-देना नहीं है। इसी तरह प्रेम का इच्छा और सुख से भी कोई संबंध नहीं है।

प्रेम विचार की उपज नहीं है। विचार अतीत है। विचार से संभवतः प्रेम का उदय नहीं हो सकता। आप ईर्ष्या के चारों ओर या भीतर प्रेम का पौधा नहीं लगा सकते। ईर्ष्या भी तो अतीत से जुड़ी है। प्रेम तो केवल सक्रिय वर्तमान में होता है। "मैं प्रेम करूँगा" या "मैंने प्रेम किया है"—यह प्रेम नहीं है। अगर आप प्रेम जानते हैं, तो आप किसी के पीछे नहीं भागेंगे। प्रेम किसी की भी आज्ञा नहीं मानता। प्रेम करनेवाला न किसी का आदर करता है, न अनादर।

क्या आपने कभी किसी से सचमुच प्रेम किया है ? या आपको पता ही नहीं कि प्रेम का क्या अर्थ है ? ऐसा प्रेम जिसमें नफ़रत, ईर्ष्या और क्रोध न हो, दूसरे के सोचने-विचारने और कार्य करने के ढंग में हस्तक्षेप करने की इच्छा न हो, और जिसमें तुलना और निंदा का भाव न हो। ऐसे प्रेम की प्रतीति क्या आपको है ? जहाँ प्रेम है वहाँ क्या तुलना हो सकती है ? जब आप किसी व्यक्ति को अपने समूचे हृदय, मन और शरीर से अर्थात् अपने पूरे अस्तित्व और प्राणों से प्रेम करते हैं, तो वहाँ क्या तुलना के लिए जगह बचती है ? जब उस प्रेम में आप स्वयं को समग्र रूप से समर्पित और विसर्जित कर देते हैं, तब वहाँ 'दूसरा' बचता ही नहीं।

क्या प्रेम में उत्तरदायित्व और कर्त्तव्य होता है ? या ये शब्द प्रेम के कोश में पाये ही नहीं जाते ? जब आप कर्त्तव्यवश कुछ करते हैं, तो क्या उसमें जरा भी प्रेम होता है ? कर्त्तव्य में कोई प्रेम नहीं होता। कर्त्तव्य के जिस जंजाल में आदमी फँसा है, वह उसे बर्बाद किये दे रहा है। जब तक आप बाध्य होकर कुछ कर रहे हैं, क्योंकि यह आपका कर्त्तव्य है, तब तक आप उस काम को प्रेम से नहीं करते। जहाँ प्रेम होता है वहाँ कर्त्तव्य और उत्तरदायित्व जैसी चीजें नहीं होतीं।

दुर्भाग्यवश अधिकतर माता-पिता यही सोचते हैं कि वे अपने बच्चों के लिए जिम्मेदार और उत्तरदायी हैं। उत्तरदायित्व से उनका अर्थ बच्चों को यह बताना है कि उन्हें क्या करना चाहिए और क्या नहीं करना चाहिए, उन्हें क्या बनना चाहिए और क्या नहीं बनना चाहिए। माता-पिता चाहते हैं कि उनके बच्चे जब बड़े हों, तो समाज में उनका स्थान सुरक्षित हो। जिसे वे अपना उत्तरदायित्व कहते हैं उससे दरअसल उनका अर्थ है अपने बच्चे को सामाजिक प्रतिष्ठा के योग्य बनाना, क्योंकि वे खुद भी तो उसी की पूजा करते हैं। मुझे ऐसा लगता है कि जहाँ भी प्रतिष्ठा है वहाँ शील, शांति और सौंदर्य नहीं है, क्योंकि प्रतिष्ठित लोगों को केवल एक पक्का बुर्जुआ बनने से मतलब होता है। ये लोग जब अपने बच्चों को सामाजिक ढाँचे के अनुकूल अर्थात् उसका एक अंग बनने के लिए तैयार करते हैं, तो ये युद्ध, संघर्ष और क्रूरता की ही नींव मजबूत कर रहे होते हैं। क्या इसे ही आप प्रेम और देखभाल करना कहते हैं ?

सच्चे अर्थों में बच्चों की देखभाल करना वैसा ही है जैसे आप एक नये रोपे गये पेड़ या पौधे की देखरेख करते हैं—उसकी आवश्यकताओं का आप ध्यान रखते हैं, समय पर पानी देते हैं, उसके चारों ओर की मिट्टी को साफ़-सुथरा और दुरुस्त रखते हैं, कहने का मतलब यह कि आप पूरी नरमी और सावधानी के साथ उसकी देखभाल करते हैं। लेकिन जब आप अपने बच्चों को समाज के अनुकूल बनने के लिए

तैयार करते हैं, तो वस्तुतः आप उन्हें मरने और मारने के लिए तैयार कर रहे हैं। अगर आपको अपने बच्चों से सचमुच प्रेम है, तो आप युद्ध को पृथ्वी से सदा के लिए समाप्त कर देंगे।

अगर आपका कोई प्रिय व्यक्ति मर जाता है, तो आप आँसू बहाते हैं। ये आँसू आप अपने लिए बहा रहे हैं या उसके लिए जो चल बसा ? आप अपने लिए रो रहे हैं या उस दूसरे के लिए ? क्या आप कभी दूसरे के लिए रोये हैं ? आपका बेटा जब युद्ध के मोर्चे पर मारा जाता है, तो क्या आप रोते हैं ? आप रोते जरूर हैं, लेकिन वे आँसू आत्म-दयनीयता के कारण निकलते हैं या इसलिए कि एक मनुष्य मारा गया ? अगर आप आत्म-दयनीयतावश रो रहे हैं, तो इन आँसुओं का कोई मूल्य नहीं है, क्योंकि तब आपका मतलब अपने आपसे है। अगर आप इसलिए रो रहे हैं क्योंकि उस व्यक्ति से आप हमेशा के लिए बिछुड़ गये जिससे आपने इतनी आशाओं और उम्मीदों के साथ नेह लगाया था, तो यह वस्तुतः स्नेह था ही नहीं। अतः जब आप अपने भाई के मरने पर रोते हैं, तो क्या यह संभव है कि आप सचमुच उसी के लिए रोयें ? अपने लिए रोना तो बहुत आसान है, क्योंकि कोई हमेशा के लिए आपको अकेला छोड़कर चला गया। प्रत्यक्षतः आप इसलिए रो रहे हैं क्योंकि आपका हृदय व्यथित और भारी है, लेकिन यह व्यथा और भारीपन उस व्यक्ति के लिए नहीं है बल्कि इसलिए कि आपको स्वयं पर तरस आ रहा है। इस तरह की आत्म-दयनीयता आपको कठोर, मंद और संवेदनशून्य बना देती है तथा आपको चारों ओर से बंद कर देती है।

जब आप अपने लिए रोते हैं, तो क्या यह प्रेम है ? रोते इसलिए हैं कि अब आप अकेले रह गये, छूट गया किसी का संग-साथ, आपकी सारी शक्ति जाती रही। अब आप अपने भाग्य को कोस रहे हैं, जीवन को धिक्कार रहे हैं, आठ-आठ आँसू बहा रहे हैं। क्या यही प्रेम है ? तो अगर आप इसे सही-सही समझ लें—जिसका अर्थ है बिलकुल इसके सीधे और प्रत्यक्ष संपर्क में आना, मानो आप अपने सामने किसी पेड़

या किसी तकिया या किसी हाथ को छू रहे हैं—तो आप देखेंगे कि दुःख तो हम स्वयं निर्मित कर रहे हैं। दुःख विचार की पैदाइश है, दुःख समय का नतीजा है। मान लीजिये तीन वर्ष पूर्व मेरा एक भाई हुआ करता था, जो मेरा एकमात्र संगी-साथी और सहारा था। कुछ दिन हुए, वह मर गया। अब मैं अकेला रह गया, अकेलेपन के दंश और पीड़ा को झेलते हुए। इस दुनिया में मेरा कोई नहीं जो मुझे ढाढ़स बँधाये, मेरा जी बहलाये, मुझे अपना स्नेहसिक्त सामीप्य दे—और यह सब सोचते ही मेरी आँखें आँसुओं से भर जाती हैं।

अगर आप निरीक्षण करें, तो यह सब आप अपने भीतर घटित होते देख सकते हैं। और देखने का अर्थ है, यह सब एक साथ एक झलक में पूरा-पूरा देखना—यह नहीं कि बैठकर इत्मीनान से इनमें से एक-एक का विश्लेषण किये जा रहे हैं। आप एक क्षण में इस क्षुद्र और बनावटी चीज यानी 'मैं' के पूरे ढाँचे और स्वरूप को देख सकते हैं—मेरा परिवार, मेरा देश, मेरा धर्म, मेरा विश्वास, मेरा सुख, मेरा दुःख—सारी की सारी कुरूपता। और यह सब आपके भीतर है। जब आप इस सब को मन से नहीं बल्कि अपने मर्म से अर्थात् हृदय की अतल गहराइयों से देखने लगते हैं, तो अनायास आपके हाथ में वह कुंजी आ जाती है जो सारे दुःखों का अंत कर देती है।

दुःख और प्रेम में कोई संबंध नहीं है। विडंबना यह है कि धार्मिक जगत में लोगो ने दुःख को आदर्श का रूप दे रखा है। हिंदू साधु-संन्यासी उपवास इत्यादि अनेक विधियों के द्वारा स्वयं को दुःख पहुँचाने की चेष्टा करते हैं। ईसाई जगत् में उन्होंने सूली पर दुःख को मूर्त रूप में लटका रखा है और उसकी पूजा करते हैं। उनका आशय यह है कि तुम अगर दुःख से बचना चाहते हो तो यही एकमात्र उपाय है जिसका सहारा लो। तो देखा आपने धार्मिक जगत का विकृत और शोषणकारी ढाँचा ?

इसलिए आप जब पूछते हैं कि प्रेम क्या है, तो इसका उत्तर कहीं आपको भयभीत और आतंकित न कर दे ! हो सकता है, प्रेम का अर्थ

मनुष्य के जीवन में एक महत् क्रांति हो। यह बसे-बसाये घर-परिवार को तोड़ सकता है, उजाड़ सकता है। आपको यह बोध हो सकता है कि आपने पति या पत्नी या बच्चों को कभी प्रेम किया ही नहीं। जरा आप अपने भीतर पूछें कि क्या आपने उनसे प्रेम किया है। आपने अब तक जो कुछ निर्मित किया है, उसे शायद आपको ध्वस्त कर देना पड़े। शायद आप पुनः कभी मंदिर न जा पायें।

जैसे-जैसे कोई प्रेम के वास्तविक अर्थ की खोज करता जाता है, वह पाता है कि भय प्रेम नहीं है, निर्भरता प्रेम नहीं है, ईर्ष्या प्रेम नहीं है, किसी पर मालकियत और अधिकार प्रेम नहीं है, उत्तरदायित्व और कर्त्तव्य प्रेम नहीं है, आत्म-दयनीयता का भाव प्रेम नहीं है, किसी का प्रेम न पाने का दर्द भी प्रेम नहीं है। प्रेम घृणा का विपरीत नहीं है, जैसे विनम्रता अहंकार का विपरीत नहीं है। तो अगर आप इन सबको स्वयं से दूर कर सकें, जोर-जबरदस्ती से नहीं, बल्कि धो-पोंछकर अपने से अलग कर सकें, जैसे पेड़ के पत्तों पर जमी धूल को वर्षा धोकर अलग कर देती है—तब शायद आप अकस्मात् प्रेम के इस अद्भुत और अनूठे पुष्प तक पहुँच जायें जिसे पाने के लिए हर मनुष्य लालायित है।

अगर आपने इस प्रेम को नहीं पाया है—इसकी केवल कुछ बूंदें नहीं बल्कि प्रचुरता में, अर्थात् यदि आप प्रेम से लबालब नहीं भरे हैं—तो संसार का विनाश होना ही है। बौद्धिक रूप से तो आप जानते हैं कि मनुष्य के बीच एकता अत्यंत आवश्यक है और प्रेम इसका एकमात्र मार्ग है, लेकिन प्रेम कैसे करें यह आपको कौन बतायेगा? क्या कोई जानकार और विशेषज्ञ या विधि और पद्धति आपको सिखा सकती है कि प्रेम कैसे करें? अगर कोई आपको प्रेम करना सिखाता है, तो वह प्रेम नहीं है। क्या आप कह सकते हैं, "मैं प्रेम का अभ्यास करूँगा, मैं प्रतिदिन बैठकर इसपर चिंतन और मनन करूँगा, मैं भद्र और दयालु होने का अभ्यास करूँगा तथा दूसरों का ध्यान रखने के लिए मैं स्वयं को बाध्य करूँगा?" क्या आपको लगता

है कि प्रेम करने के लिए आप स्वयं को अनुशासित कर सकते हैं तथा अपनी इच्छाशक्ति का प्रयोग कर सकते हैं ? जब प्रेम करने के लिए आप अनुशासन और इच्छाशक्ति का प्रयोग करते हैं, तो प्रेम आपकी पहुँच से बाहर चला जाता है। प्रेम की किसी प्रणाली और पद्धति को अपनाने पर अधिक-से-अधिक यही आशा की जा सकती है कि आपमें थोड़ी समझदारी, उदारता और अहिंसा आ जाये, लेकिन इन सबका प्रेम से कुछ भी लेना-देना नहीं है।

इस मरुस्थल रूपी उजाड़ जगत में प्रेम है ही नहीं, क्योंकि यहाँ सुख और चाह की ही सबसे बड़ी भूमिका है। और प्रेम के बिना आपके जीवन का एक-एक दिन निरर्थक है। अगर सौंदर्य न हो तो आपके पास प्रेम भी नहीं हो सकता। सौंदर्य वह नहीं है जिसे आप देखते हैं। अर्थात् सौंदर्य का अर्थ एक सुंदर पेड़, एक सुंदर चित्र, एक सुंदर भवन या एक सुंदर नारी नहीं है। सौंदर्य तभी होता है जब आपके हृदय और मन को पता होता है कि प्रेम क्या है। प्रेम और सौंदर्य के बोध के बिना सद्गुण का अस्तित्व नहीं होता। इसे आप अच्छी तरह जान लें कि आप चाहे जो कुछ भी करें—समाज सुधार करें, गरीबों को खाना खिलायें—आप केवल शरारत और उपद्रव में ही वृद्धि करेंगे, क्योंकि प्रेम के अभाव में आपका अपना हृदय और मन केवल कुरूपता और दरिद्रता से भरा है। अतः आपके पास देने और बाँटने को है ही क्या ? लेकिन एक बार जब आप प्रेम और सौंदर्य से भर जाते हैं तो फिर आप जो कुछ भी करते हैं, वह ठीक और जायज होता है, आपसे जो कुछ भी होता है वह व्यवस्थित और सुसंगत होता है। अगर आपने प्रेम की इस संपदा को पा लिया है तो आपको जो पसंद हो आप कर सकते हैं, क्योंकि प्रेम स्वयं सभी समस्याओं का समाधान बन जाता है।

अब हम उस बिंदु पर पहुँच गये हैं जहाँ हमें पूछना है : क्या बिना अनुशासन, संकल्प और जोर-जबरदस्ती के या बिना किसी पुस्तक, गुरु और मार्गदर्शक के मन अनायास ही प्रेम का साक्षात्कार कर सकता

है ?—जैसे कभी अकस्मात् सूर्यास्त के अभूतपूर्व सुंदर दृश्य से आपका साक्षात्कार हो जाता है !

मेरी दृष्टि में एक चीज़ परम आवश्यक है और वह है प्रयोजन-रहित उत्कटता और आवेग—वह आवेग नहीं जो प्रतिवद्धता या लगाव से पैदा होता है या जो वासना और राग है। जो व्यक्ति यह नहीं जानता कि उत्कटता और आवेग क्या हैं, वह कभी प्रेम को नहीं जान पायेगा। क्योंकि प्रेम तभी घटित हो सकता है जब पूर्ण आत्म-विसर्जन हो !

जो मन कुछ खोज रहा है, कुछ पाने के लिए प्रयत्नशील है, वह उत्कटता और आवेग से भरा नहीं होता, और प्रेम का साक्षात्कार करने के लिए यह आवश्यक है कि इसे पाने की हमारी सारी खोज और दौड़-धूप बंद हो जाये—यह साक्षात्कार अनजाने में और अकस्मात् हो अर्थात् यह किसी अनुभव और प्रयास का परिणाम न हो। आप पायेंगे कि ऐसा प्रेम समय से परे है। ऐसा प्रेम वैयक्तिक और अवैयक्तिक दोनों है। यह एक के लिए है और अनेक के लिए भी। यह एक फूल की सुगंध के समान है—आप चाहें तो इसकी सुगंध लें या इसकी ओर ध्यान भी न दें, सुगंध तो फूल में रहेगी ही। यह फूल हर व्यक्ति के लिए है और उसके लिए तो है ही जो इस फूल के निकट आने का कष्ट करता है और आनंद से विभोर होकर इसको निहारता है और इसकी सुगंध को अपनी साँसों में बसा लेता है। फूल बिना किसी भेदभाव के अपनी सुगंध सबको लुटाता है। अगर सुगंध लेनेवाला कोई न हो तो भी इसकी सुगंध में कोई कमी नहीं होती।

प्रेम कुछ ऐसी चीज है जो नयी, ताजी और जीवंत है। इसका न कोई अतीत है और न भविष्य। यह विचार के तनाव और अशांति से बिलकुल परे है। केवल निष्कलुष मन ही जान सकता है कि प्रेम क्या है, और ऐसा निष्कलुष मन इस बेतुके संसार में भी जी सकता है जो निष्कलुष नहीं है। इस असाधारण वस्तु अर्थात् प्रेम को मनुष्य ने अनंत उपायों द्वारा खोजा है—पूजा-अर्चना और भक्ति के

द्वारा, त्याग और बलिदान के द्वारा, आपसी संबंध और मित्रता के द्वारा, काम वासना और यौन संबंधों के द्वारा, हर तरह के सुख और दु:ख में भी उसने प्रेम को तलाशने की कोशिश की है। लेकिन प्रेम तभी घटित होता है जब विचार अपने आपको समझ लेता है और फिर सहज और स्वाभाविक रूप से मिट जाता है, समाप्त हो जाता है। तब प्रेम का कोई विपरीत नहीं होता। तब प्रेम में कोई संघर्ष और द्वंद्व नहीं होता।

आप पूछ सकते हैं, "अगर मुझमें ऐसा प्रेम घटित हो जाये, तो मेरी पत्नी, मेरे बच्चों, मेरे परिवार का क्या होगा ? उन्हें तो सुरक्षा चाहिए ही।" आप ऐसा प्रश्न इसीलिए उठा रहे हैं क्योंकि आपने कभी विचार और चेतना के क्षेत्र के बाहर कदम नहीं रखा है। बस एक बार आप इस क्षेत्र के बाहर चले जायें, आप ऐसा प्रश्न फिर कभी नहीं करेंगे। क्योंकि तब आप जानेंगे कि वह प्रेम क्या है जिसमें विचार मिट जाता है और इसलिए समय भी। आप यह सब चमत्कृत और सम्मोहित होकर भले ही पढ़ लें, लेकिन वस्तुतः विचार और समय के पार चले जाने—जो अपने-आपमें दु:ख के पार चला जाना है—का अर्थ है, एक भिन्न आयाम का एहसास और बोध जिसे प्रेम कहते हैं।

लेकिन आप नहीं जानते कि इस अद्भुत और अनूठे झरने के पास कैसे आयें। तो आप क्या करेंगे ? जब आपको पता नहीं होता कि क्या करना है, तो आप कुछ नहीं करते। एकदम कुछ नहीं। क्या ऐसा नहीं है ? तब आप अपने भीतर पूर्णतः शांत होते हैं। इसका अर्थ आप समझें ? इसका अर्थ है आपकी सारी भाग-दौड़ खत्म ! आप कुछ खोज नहीं रहे हैं, कुछ चाह नहीं रहे हैं। आपके भीतर का केंद्र मिट गया। और यही शुभ घड़ी है प्रेम के प्रकट होने की।

ग्यारह

देखना और सुनना—कला—सौंदर्य—संयम—प्रतिमाएं—समस्याएँ—अंतराल

पिछले अध्याय में हम प्रेम की प्रकृति की छानवीन में लगे रहे और अब उस बिंदु पर पहुँचे हैं जहाँ इस विषय में और अधिक गहरी पैठ, सूझ-बूझ और समझ आवश्यक है। हमने पाया कि अधिकांश लोगों के लिए प्रेम का अर्थ है सुरक्षा, सुख और आराम तथा जीवन भर के लिए सतत शारीरिक और भावनात्मक तृप्ति की गारंटी। फिर मेरे-जैसा कोई आदमी अचानक आकर आपसे सीधा सवाल करता है, "क्या वस्तुत: यही प्रेम है ?" आपको अपने भीतर झाँकने के लिए कहता है। और आपकी पूरी कोशिश यह है कि भीतर झाँकें ही नहीं, क्योंकि इससे आपको घबराहट होती है। आप बल्कि आत्मा पर चर्चा करना चाहेंगे। राजनीतिक और आर्थिक चर्चा करने में भी आपको ज्यादा रस आयेगा। लेकिन आपको किसी तरह बाध्य कर दिया जाये अपने भीतर झाँकने और देखने के लिए, तो आप यही पायेंगे कि जिसे आपने प्रेम समझा था वह प्रेम है ही नहीं। वह तो आपसी तुष्टीकरण है, एक-दूसरे का शोषण है।

जब मैं कहता हूँ, "प्रेम का न कोई भविष्य है न अतीत" या "मनुष्य के भीतर का केंद्र जब मिट जाता है, तभी प्रेम प्रकट होता है", तो यह मेरे लिए एक हक़ीकत और सचाई है, लेकिन आपके लिए नहीं। आप जहाँ-तहाँ इन उक्तियों का उद्धरण दे सकते हैं, इन्हें एक सूत्र का रूप दे सकते हैं, लेकिन इन सबका महत्त्व और मूल्य ही क्या है ! आपको अपने लिए स्वयं इसे देखना पड़ेगा। इसके लिए आपके पास देखने की स्वतत्रंता होनी चाहिए, जिसका अर्थ है आपको हर प्रकार के निर्णय-निष्कर्ष, निंदा-समर्थन, सहमति-असहमति से मुक्त होना होगा।

देखना और सुनना—ये जीवन की दो कठिनतम चीजें हैं। अगर आपकी आँखें चिंता और परेशानियों से अंधी हो गयी हैं, तो आप डूबते सूरज के सौंदर्य को नहीं देख सकते। दुर्भाग्यवश मनुष्य धीरे-धीरे प्रकृति से दूर होता चला जा रहा है। सभ्यता तेजी से बड़े शहरों और नगरों की ओर मुड़ रही है। हम अब अधिक से अधिक शहरी बनते जा रहे हैं। बड़े शहरों और महानगरों में लोग छोटे-छोटे फ्लैटों में सिमटकर रहने लगे हैं। मकान ऊँचे-ऊँचे और आपस में इतने सटे हुए कि सुबह या साँझ आसमान को देखना भी नसीब नहीं। इस तरह प्रकृति और इसके सौंदर्य से हमारा संपर्क टूटता जा रहा है। पता नहीं, आपने कभी ध्यान दिया है कि नहीं कि कितने थोड़े-से लोगों को अब इस बात में रुचि रह गयी है कि सूर्योदय या सूर्यास्त के समय आकाश में फैले सौंदर्य का अवलोकन करें अथवा रात के समय चारों ओर फैली चाँदनी को या दिन के उजाले में जल की सतह पर जगमगाते सूर्य की किरणों को देखें।

प्रकृति से अपना नाता तोड़कर स्वभावतः हमारा झुकाव केवल बौद्धिक क्षमताएँ विकसित करने की ओर हो जाता है। हम ढेर सारी पुस्तकें पढ़ते हैं, बहुत-सी जगहों पर जाकर संग्रहालय देखते हैं, संगीत सम्मेलनों में बैठकर अपना वक्त गुजारते हैं, टेलिविजन देखते हैं तथा मनोरंजन के अन्य साधनों का इस्तेमाल करते हैं। चर्चाओं के दौरान हम विद्वानों और लेखकों की पंक्तियों का उद्धरण देते हैं, अर्थात् दूसरों के विचारों को ही दोहराते हैं। कला के संबंध में हम ढेर सारा चिंतन और चर्चा करते हैं। कला पर हमारा इतना अधिक जोर और इतनी अधिक निर्भरता क्यों है? कहीं यह एक तरह का पलायन, एक तरह की उत्तेजना ही तो नहीं हैं? अगर आप प्रकृति के सीधे संपर्क में रहें, कभी पंखों पर तिरते हुए पक्षियों की हरकतों को देखें, आसमान में चाँद-तारों, सूरज और बादलों की गतिविधियों का अवलोकन करें, पहाड़ियों पर बनते-बिगड़ते धूप और छाया की आकृतियों का निरीक्षण करें या किसी व्यक्ति के चेहरे पर विराजमान सौंदर्य को देखें, तो क्या

आप सोचते हैं कि तब आप अन्यत्र किसी संग्रहालय में टँगे हुए चित्रों को देखने जाना चाहेंगे ? लेकिन दुर्भाग्यवश चारों ओर बिखरे पड़े इस सहज सौंदर्य की ओर आपकी दृष्टि जाती ही नहीं। आप मानो बंद आँखों से ही जी रहे हैं। बहुतों की ये बंद आँखें तो तब तक खुलती ही नहीं जब तक वे किसी नशीली वस्तु का सेवन नहीं कर लेतें।

एक कहानी है कि कहीं पर एक आध्यात्मिक गुरु रहा करता था। हर सुबह वह अपने शिष्यों के समक्ष प्रवचन दिया करता था। एक सुबह वह प्रवचन के लिए आकर बैठा था। वह बोलने ही जा रहा था कि कहीं से एक छोटी-सी चिड़िया उड़ती हुई आयी और पास की एक खिड़की पर बैठकर गाने लगी। चिड़िया अपने पूरे हृदय से मगन होकर गाती रही। कुछ देर बाद उसने गाना बंद किया और उड़कर बाहर चली गयी। और तब गुरु ने शिष्यों से कहा, "आज का प्रवचन समाप्त हुआ।"

मुझे लगता है कि हमारी बड़ी-से-बड़ी कठिनाइयों में से एक है सीधा और साफ-साफ अपने लिए देख पाना—न केवल बाहरी चीजों को बल्कि आंतरिक जीवन को भी। जब हम कहते हैं कि हम एक पेड़ या एक फल या एक व्यक्ति को देख रहे हैं, तो क्या हम वस्तुतः उन्हें देखते हैं ? या हम केवल शब्द द्वारा निर्मित प्रतिमा या छवि को ही देखते हैं ? अर्थात् जब आप एक पेड़ को देखते हैं या साँझ के बादलों की लाली और उनकी लीला को देखते हैं, तो क्या आप सचमुच उन्हें देख पाते हैं—न केवल अपनी बुद्धि और आँखों के सहारे बल्कि संपूर्ण और समग्र रूप से ?

क्या आपने कभी किसी बाह्य वस्तु, जैसे किसी पेड़ को देखते रहने का प्रयोग किया है, बिना इसके बारे में अर्जित पूर्व जानकारी या स्मृति के सहारे, बिना किसी पूर्वाग्रह, निष्कर्ष और शब्द के सहारे, जो प्रायः आपके और पेड़ के बीच एक आवरण, एक बाधा बन जाते हैं, जिसके कारण आप पेड़ को वैसा ही नहीं देख पाते जैसा यह है ? आप

इसको आजमाकर देखें कि क्या होता है जब आप अपनी समग्र ऊर्जा से, अपने संपूर्ण अस्तित्व और प्राणों से एक पेड़ का अवलोकन करते हैं। ऐसी तीव्रता और गहनता होने पर आप पायेंगे कि द्रष्टा अर्थात् देखनेवाला बचा ही नहीं, बच गया केवल ध्यान और होश। द्रष्टा और दृश्य तो होश की कमी के कारण अर्थात् ध्यान की कमी या अनुपस्थिति के कारण पैदा होते हैं। जब आप किसी चीज़ को पूरे ध्यान से देखते हैं, तो वहाँ किसी विचार और कल्पना के लिए, अवधारणा और स्मृति के लिए जगह ही नहीं बचती। इसे आप अच्छी तरह समझ लें, क्योंकि तभी आप सावधानीपूर्वक गहरी छानबीन में उतर सकेंगे।

केवल वही मन जान पाता है कि सौंदर्य क्या है जो पूर्ण आत्म-विसर्जन के साथ आसमान के तारों को या एक पेड़ को या सूर्यकिरणों में झिलमिलाते नदी के जल को देखता है। और इस प्रकार जब हम सचमुच देखते हैं तो उस क्षण हम प्रेम की स्थिति में होते हैं। सामान्यतया हमें तुलना द्वारा ही सौंदर्य का बोध होता है या फिर उन वस्तुओं में हमें सौंदर्य दिखाई पड़ता है जिनका निर्माण मनुष्य के हाथों हुआ है। इसका अर्थ है कि हम सौंदर्य का संबंध वस्तु से जोड़ते हैं। मैं एक सुंदर भवन को देखता हूँ, लेकिन यह मुझे सुंदर इसलिए प्रतीत होता है क्योंकि मैं इसका मूल्यांकन स्थापत्य और वास्तुकला संबंधी अपने ज्ञान के आधार पर कर रहा हूँ या पहले देखे गये अन्य भवनों से मैं इसकी तुलना कर रहा हूँ। लेकिन अब मैं स्वयं से पूछ रहा हूँ, "क्या वस्तु के बिना भी सौंदर्य का अस्तित्व हो सकता है?" जब द्रष्टा का अस्तित्व होता है, तो वह किसी वस्तु को देखकर उसका अनुभव करता है, उसपर विचार करता है अर्थात् वह निर्णायक बन जाता है—और इस तरह सौंदर्य का लोप हो जाता है। द्रष्टा जब सौंदर्य को किसी वस्तु में खोजने की कोशिश करता है अर्थात् जब वह सौंदर्य को किसी वस्तु पर आरोपित कर देता है, तो सौंदर्य बिलकुल बाह्य चीज़ हो जाती है। लेकिन जब द्रष्टा का लोप हो जाता है, तो वस्तु के बिना भी सौंदर्य का अस्तित्व होता है। इसके लिए गहरी दृष्टि और भरपूर ध्यान की आवश्यकता है।

द्रष्टा और दृश्य के लय हो जाने पर अर्थात् विसर्जित हो जाने पर ही सौंदर्य का जन्म होता है, और आत्म-विसर्जन तभी होता है जब पूर्ण संयम हो। साधु और संन्यासी वाला संयम नहीं, जो कठोर नियमों, निषेधों, अनुशासन और अनुकरण से भरा होता है, न ही आहार-विहार, विचार और व्यवहार का संयम बल्कि पूर्ण सरलता का संयम, जो वस्तुतः पूर्ण विनम्रता है। तब आपको न तो कुछ पाना रहता है और न कहीं पहुँचना। तब आपके द्वारा उठाया हुआ पहला पग अनंत पग हो जाता है।

कल्पना कीजिए, आप अकेले टहल रहे हैं या किसी के साथ, लेकिन चुपचाप, बिना एक शब्द बोले। आपके चारों ओर प्रकृति मौजूद है। दूर-दूर तक गहन सन्नाटा छाया हुआ है। न कुत्ते के भौंकने की आवाज आ रही है न दूर किसी गाड़ी के आने-जाने की। यहाँ तक कि कोई पक्षी भी अपना पर नहीं फड़फड़ा रहे हैं। इस तरह आपके चारों ओर निसर्ग पूर्णतः शांत एवं मौन है और साथ-साथ आप भी। मौन और शांति की इस दशा में द्रष्टा भी शांत हो गया है, क्योंकि वह दृश्य को निर्विचार होकर देख रहा है। सन्नाटे की इस अवस्था में एक अपूर्व और अनूठा सौंदर्य प्रकट होता है। इस अवस्था में—न तो प्रकृति है, न उसका द्रष्टा। इस अवस्था में मन संपूर्ण और समग्र रूप से एकाकी होता है। यह एकाकीपन एकांत के कारण नहीं है बल्कि इसलिए कि मन एकदम मौन और निस्तब्ध है। और यही निस्तब्धता और नीरवता सौंदर्य है। जब आप प्रेम से भरे होते हैं, तो क्या वहाँ द्रष्टा होता है? द्रष्टा तभी होता है जब प्रेम का अर्थ सुख और वासना हो। अगर सुख और चाह प्रेम से न जुड़े हों तो प्रेम गहन और तीव्र होता है। तब यह सौंदर्य के समान ही प्रतिदिन पूर्णतः नया-का-नया रहता है। और जैसा मैंने पहले कहा, इस प्रेम का न कोई अतीत है, न भविष्य।

जीवन में हम किसी भी चीज़ के सीधे संपर्क में तभी आ पाते हैं जब हम उस चीज़ को बिना किसी प्रतिमा और पूर्वधारणा के देखते

हैं। हमारे सभी आपसी संबंध वस्तुतः काल्पनिक हैं—अर्थात् विचार द्वारा गढ़ी गयी प्रतिमा पर आधारित। अगर अपने मन में मैंने आपके बारे में एक प्रतिमा बना रखी है और इसी तरह आपने भी मेरे बारे में, तो स्वभावतः हम एक-दूसरे को उस रूप में नहीं देख सकते जो हम वस्तुतः हैं। जो हम देखते हैं वह दरअसल प्रतिमा है जो हमने एक-दूसरे के बारे में बनायी हुई है। इन प्रतिमाओं के कारण हम एक-दूसरे के वास्तविक संपर्क में आ ही नहीं पाते, इसलिए हमारे बनाये हुए सारे संबंध अंततः गलत सिद्ध हो जाते हैं।

जब मैं कहता हूँ कि मैं आपको जानता हूँ, तो इससे मेरा मतलब है जो कुछ कल तक मैंने आपके बारे में जाना। इस तरह अभी आप जो हैं उसे मैं वस्तुतः नहीं जानता। तो जो कुछ मैं आपके बारे में जानता हूँ वह अब मेरे मन में आपकी एक प्रतिमा का रूप धारण कर चुका है। इस प्रतिमा की रचना जिन चीज़ों से हुई है वे हैं : अब तक आपने मेरी प्रशंसा या आलोचना में जो कुछ कहा है, आपने मेरा मान या अपमान अथवा भला या बुरा जो कुछ किया है—अर्थात् आपकी यह प्रतिमा मैंने आपके संबंध में अपनी सारी स्मृतियों को जोड़कर बनायी है। ठीक इसी तरह आपने भी अपने मन में मेरी एक प्रतिमा निर्मित कर ली है। जब हम एक-दूसरे से मिलते हैं, तो वस्तुतः हम नहीं बल्कि ये प्रतिमाएँ आपस में मिल रही हैं। परस्पर संबंध इन प्रतिमाओं के बीच है न कि आपके और मेरे बीच। यही कारण है कि आपके और मेरे बीच कभी अंतरंग संवाद नहीं हो पाता।

इसी प्रकार दो व्यक्ति जो बहुत दिनों तक एक साथ रह चुके हैं वे एक-दूसरे के संबंध में प्रतिमा बना लिये रहते हैं जिस कारण उनके बीच कभी वास्तविक संबंध का उदय ही नहीं हो पाता। अगर हम संबंध को अच्छी तरह समझ लें, तो हमारे बीच परस्पर सहयोग हो सकता है। लेकिन प्रतिमाओं, प्रतीकों और सैद्धांतिक धारणाओं के रहते यह सहयोग कभी संभव नहीं है। जब हम एक-दूसरे के बीच वास्तविक संबंध को समझ जाते हैं, तभी प्रेम की संभावना पैदा होती

है। लेकिन प्रतिमाओं के कारण इस प्रेम की हत्या हो जाती है। इसलिए अपने दैनिक जीवन में बौद्धिक रूप से नहीं बल्कि वास्तविक रूप से यह समझ लेना आवश्यक है कि किस तरह आपने अपने पति, पत्नी, बच्चे, और पड़ोसी के बारे में तथा अपने देश, इसके नेताओं और राजनीतिज्ञों के बारे में एवं भगवानों के बारे में प्रतिमाएँ बना रखी हैं। आपने अपने भीतर प्रतिमाओं का अंबार लगा रखा है।

ये प्रतिमाएँ आपके और आप जो देखते हैं उसके बीच दूरी पैदा करती हैं और यही दूरी संघर्ष का कारण है। तो अब हमें साथ-साथ यह मालूम करना है कि जो दूरी हम पैदा करते हैं उससे क्या मुक्त हुआ जा सकता है—न केवल हमारे बाहर की दूरी बल्कि भीतर की भी, क्योंकि यही दूरी मानव संबंधों में दरार पैदा करती है ?

जब आप किसी समस्या की ओर अपना ध्यान देते हैं, तो वह ध्यान ही ऊर्जा है जो उस समस्या को हल करती है। इस तरह जब आप अपना समग्र ध्यान देते हैं, पूरे प्राणों से, तो उस समय समस्या का कोई द्रष्टा या समाधानकर्ता नहीं होता। तब वहाँ केवल ध्यान की अवस्था होती है, जो समग्र ऊर्जा है। और यह समग्र ऊर्जा ही प्रज्ञा और समझ का उच्चतम रूप है। स्वभावतः इस अवस्था में मन को पूर्णतः शांत और स्थिर होना चाहिए। यह शांति और स्थिरता साधी नहीं जा सकती बल्कि यह समग्र ध्यान में घटित होती है। यह समग्र मौन और चुप्पी, जिसमें न देखनेवाला बचा न वह चीज़ जो देखी जाती है, एक धार्मिक मन की उच्चतम अवस्था है। लेकिन इस अवस्था में जो घटित होता है उसे शब्दों में नहीं रखा जा सकता, क्योंकि शब्दों में जो कहा जायेगा वह सत्य नहीं होगा। इसे जानने के लिए आपको स्वयं इससे गुजरना होगा।

हर समस्या एक-दूसरे से जुड़ी हुई है। इसलिए अगर आप एक भी समस्या को पूरी तरह हल कर लें—चाहे यह कोई भी समस्या हो—तो आप पायेंगे कि आप अन्य सभी समस्याओं का आसानी से सामना और समाधान कर सकते हैं। यहाँ हम मनोवैज्ञानिक समस्याओं की

बात कर रहे हैं। हम पहले ही देख चुके हैं कि समय के आयाम में ही समस्याओं का अस्तित्व होता है, अर्थात् जब हम किसी प्रश्न का सामना अधूरे रूप से करते हैं, तो वह समस्या का रूप ले लेता है। इसलिए न केवल हमें समस्या के स्वरूप और इसके ढाँचे से अवगत होना चाहिए बल्कि जैसे ही कोई समस्या उत्पन्न हो, हमें उसका सामना करना चाहिए और तत्काल उसका समाधान कर लेना चाहिए ताकि यह हमारे मन में अपनी जड़ न जमा ले। अगर कोई व्यक्ति किसी समस्या को एक महीने या एक दिन या कुछ मिनटों के लिए भी टिकने देता है, तो यह समस्या उसके मन को विकृत कर देती है। तो इससे पहले कि कोई समस्या हमारे मन को विकृत कर दे, क्या यह संभव है कि हम उसका तत्काल सामना करें और उसी क्षण उससे पूर्णतः मुक्त हो जायें ताकि उसकी कोई स्मृति या खरोंच तक हमारे मन पर बनने व टिकने न पाये। यही स्मृतियाँ वे प्रतिमाएँ हैं जिन्हें हम अपने साथ ढोते फिरते हैं। चूँकि यही प्रतिमाएँ जीवन जैसे असाधारण चीज़ का सामना करती हैं इसलिए यह जीवन विसंगति और संघर्ष से भरा है। जीवन एक सिद्धांत या कल्पना नहीं है, यह एक हक़ीकत और सचाई है, और जब आप प्रतिमाओं को साथ लेकर इस सचाई का सामना करने चलते हैं, तो आप केवल समस्याएँ पैदा करने जा रहे हैं।

क्या बिना स्थान और समय के अंतराल को निर्मित किये हुए जीवन के हर प्रश्न का सामना करना संभव है ? क्या यह संभव है कि मैं जिस चीज़ से भयभीत हूँ उसके और मेरे बीच कभी अंतराल अर्थात् दूरी पैदा न हो ? यह तभी संभव है जब द्रष्टा का अस्तित्व ही मिट जाये। द्रष्टा जो प्रतिमाओं का निर्माता है। द्रष्टा जो धारणाओं और स्मृतियों का जोड़ है। द्रष्टा जो विचारों और कल्पनाओं का समूह है।

जब आप तारों को देखते हैं तो वहाँ देखनेवाले के रूप में आप उपस्थित होते हैं, जो आसमान के तारों को देख रहा है। आसमान एक छोर से दूसरी छोर तक जगमगाते तारों से भरा है, चारों ओर

शीतल हवा वह रही है और वहाँ मौजूद हैं आप अर्थात् द्रष्टा, अनुभवकर्ता, विचारकर्ता, दु:ख-दर्द को जाननेवाला—वह केन्द्र जो अपने चारों ओर दूरी निर्मित कर रहा है। आप तारे और अपने बीच की दूरी को, अपनी पत्नी या अपने पति या मित्र और अपने बीच की दूरी को कभी नहीं समझ सकते, क्योंकि उनकी प्रतिमाओं से मुक्त होकर आपने उन्हें कभी देखा ही नहीं है। इसीलिए आपको पता नहीं है कि सौंदर्य क्या है या प्रेम क्या है। आप इस पर चर्चा करते हैं, पुस्तकें लिख डालते हैं, लेकिन आपने इसे कभी जाना नहीं है। पूर्ण आत्म-समर्पण और विसर्जन के क्षणों में शायद आपको कभी इसका आभास भर मिल गया हो। लेकिन जब तक अपने चारों ओर दूरी और दायरा निर्मित करनेवाला यह केन्द्र मौजूद है तब तक न प्रेम का अस्तित्व है, न सौंदर्य का। जब केन्द्र मिट जाता है और साथ-साथ उसके चारों ओर की परिधि भी, तो प्रेम स्वतः जन्म लेता है। और जब आपके भीतर यह प्रेम होता है, तो आप स्वयं सौंदर्य हैं।

जब आप अपने सामने किसी व्यक्ति का चेहरा देखते हैं तो आप एक केन्द्र से देख रहे हैं। यही केन्द्र व्यक्ति और व्यक्ति के बीच दूरी और फासला निर्मित करता है। यही कारण है कि हमारा जीवन इतना रूखा और रिक्त है। आप प्रेम या सौंदर्य उत्पन्न नहीं कर सकते, न ही आप सत्य का आविष्कार कर सकते हैं। लेकिन आप जो भी कर रहे हैं उसके प्रति अगर आप हर समय सजग रहें, तो आप अपने भीतर सजगता उत्पन्न कर सकते हैं। इसी सजगता के फलस्वरूप आप अपने भीतर सुख और दु:ख, इच्छा और वासना, गहन ऊब और अकेलेपन के स्वरूप को देखने लगेंगे और धीरे-धीरे इनकी जगह आपको अपने भीतर एक अनंत 'विस्तार और फैलाव' से साक्षात्कार होने लगेगा।

इस तरह आप पायेंगे कि द्रष्टा और दृश्य के बीच दूरी और अंतराल के कारण ही मनुष्य के जीवन से प्रेम विदा हो गया है। प्रेम के बिना आप चाहे जो कुछ करें, संसार को बदल डालने का और समाज

में एक नयी व्यवस्था लाने का चाहे जितना प्रयास करें, विकास और प्रगति की चाहे जितनी चर्चा करें—आप केवल यातना और दु:ख निर्मित करेंगे। इसलिए सब कुछ आप पर निर्भर है। यहाँ न कोई गुरु है न मार्गदर्शक। आपको क्या करना है, यह बतानेवाला कोई नहीं। इस विक्षिप्त और क्रूर जगत में आप अकेले हैं।

बारह

-द्रष्टा और दृश्य-

खोजबीन की जिस दिशा में हम आगे बढ़ रहे थे उस ओर हमें कुछ और आगे जाना है। संभव है, यह थोड़ा जटिल और सूक्ष्म हो, लेकिन कृपया आप मेरे साथ चलते रहें।

जब मैं आपके बारे में या किसी भी चीज़ के बारे में एक प्रतिमा बना लेता हूँ, तो मैं इस प्रतिमा को देख भी सकता हूँ। इस तरह एक ओर यह प्रतिमा है और दूसरी ओर इसको देखनेवाला यानी इसका द्रष्टा। मान लीजिये, मैं किसी व्यक्ति को लाल कमीज पहने देखता हूँ और मेरी तत्काल प्रतिक्रिया होती है कि यह मुझे पसंद है या यह मुझे बिलकुल पसंद नहीं। तो मेरी यह पसंद या नापसंदगी जिन चीज़ों का नतीजा है वे हैं मेरी संस्कृति, मेरी शिक्षा-दीक्षा, मेरी संगति और मेरे संबंध, मेरे झुकाव, मेरे अर्जित तथा वंशानुगत लक्षण। इन सबों के इकट्ठे जोड़ से बने केन्द्र से ही मैं देखता हूँ तथा अपना निर्णय और फैसला बनाता हूँ। इस तरह द्रष्टा जिस चीज़ को भी देखता है उससे अपने को अलग कर लेता है।

द्रष्टा अपने भीतर एक नहीं बल्कि हजारों प्रतिमाओं को देखता है, जो सबकी सब वस्तुतः उसी की कृतियाँ हैं। लेकिन क्या द्रष्टा स्वयं इन प्रतिमाओं से भिन्न है? या वह भी अपने आप में एक प्रतिमा ही है? द्रष्टा एक स्थिर और जड़ वस्तु नहीं है। वह जो कुछ है उसमें सदा वह कुछ न कुछ जोड़ता और घटाता रहता है। यह जीवित द्रष्टा अपने भीतरी और बाहरी जगत के दबाव के कारण हर समय विभिन्न चीज़ों के बीच तुलना कर रहा है, उनकी नाप-तौल कर रहा है, उनपर अपनी धारणा और राय बना रहा है, उनमें हेर-फेर और बदलाव ला रहा है। यह द्रष्टा चेतना के उस जगत में जी रहा है जिसका निर्माण उसके अपने प्रभाव, ज्ञान और असंख्य लेखे-जोखे से

हुआ है। तो अगर आप कभी इस द्रष्टा पर अपनी दृष्टि डालें—द्रष्टा यानी जो आप स्वयं हैं—तो आप पायेंगे कि यह अनेक स्मृतियों, अनुभवों, प्रभावों, परंपराओं, घटनाओं और अनंत प्रकार के दुःखों से मिलकर बना है--जो सब के सब अतीत हैं। यह द्रष्टा अतीत और वर्तमान दोनों है, और आनेवाले जिस कल की यह प्रतीक्षा कर रहा है वह भी इसी का हिस्सा है। इस तरह द्रष्टा पेड़ के उस पत्ते के समान है जिसका आधा भाग हरा है और आधा भाग पीला पड़ चुका है। अर्थात् द्रष्टा में जीवन और मृत्यु दोनों मौजूद हैं और इन्हीं के सहारे वह देखता है। तो समय के आयाम में स्थित चेतना और मन की इसी दशा में द्रष्टा यानी 'आप' भय को, ईर्ष्या को, युद्ध को, अपने परिवार को देखते हैं और इनसे उत्पन्न समस्या को हल करने की कोशिश करते हैं जो हर बार आपके सामने एक 'नयी' चुनौती के रूप में आती है। लेकिन जो भी 'नया' है उसका सीधा सामना करने के बदले आप उसे पहले पुराने साँचे में ढालने की चेष्टा करते हैं, और इसीलिए आप हर हमेशा संघर्ष में जीते हैं।

द्रष्टा, जो स्वयं भी एक प्रतिमा है, अपने आसपास दर्जनों दूसरी प्रतिमाओं को देखता है और कहता है, "मुझे यह प्रतिमा अच्छी लगती है, मैं इसे अपने पास संभालकर रखूँगा" या "मुझे यह प्रतिमा एकदम अच्छी नहीं लगती, इसलिए मैं इससे छुटकारा पाना चाहता हूँ।" लेकिन प्रतिमाओं के प्रति व्यक्त ये प्रतिक्रियाएँ स्वयं एक प्रतिमा बन जाती हैं और ऐसी ही प्रतिमाओं का जोड़ है द्रष्टा। तो अब हम उस बिन्दु पर पहुँच गये हैं जहाँ हम कह सकते हैं, "द्रष्टा स्वयं भी एक प्रतिमा है, केवल उसने अपने को अलग कर रखा है और एक दूरी को कायम रखते हुए वह अपने चारों ओर देखता है। यह द्रष्टा, जो विभिन्न प्रतिमाओं के द्वारा पैदा हुआ है, अपने को स्थायी मानता है और उसने अपने और अन्य प्रतिमाओं के बीच एक विभाजन, समय का एक अंतराल निर्मित कर लिया है। इससे उसके और अन्य प्रतिमाओं के बीच तनाव और संघर्ष पैदा होता है, लेकिन इसके लिए वह प्रतिमाओं को दोषी मानता है न कि स्वयं को। इसलिए तब

वह कहता है मुझे, इस संघर्ष से छुटकारा चाहिए," लेकिन इस संघर्ष से छुटकारा पाने की इच्छा ही फिर एक दूसरी प्रतिमा को जन्म देती है।

इस सब के प्रति होश और सजगता, जो वास्तविक ध्यान है, प्रकट करती है कि इस सबके मूल में एक केंद्रीय प्रतिमा है जो दूसरी सभी प्रतिमाओं के जोड़ से बनी है। यह केंद्रीय प्रतिमा-यानी वह द्रष्टा ही अनुभवकर्ता, मूल्यांकनकर्ता और निर्णायक है जो दूसरी सभी प्रतिमाओं पर विजय पाना चाहता है या उन्हें अपने अधीन करना चाहता है या फिर पूरी तरह उन्हें नष्ट कर देना चाहता है। लेकिन चूंकि दूसरी सभी प्रतिमाएँ द्रष्टा के मतों, निर्णयों और निष्कर्षों के फल हैं और द्रष्टा स्वयं उन सभी प्रतिमाओं का फल है—इसलिए द्रष्टा ही दृश्य है।

तो होश और सजगता ने हमारे मन की विभिन्न अवस्थाओं को प्रकट कर दिया है, विभिन्न प्रतिमाओं को प्रकट कर दिया है और यह भी कि किस तरह इन प्रतिमाओं के बीच परस्पर विरोध है, जिसके फलस्वरूप संघर्ष पैदा होते हैं, और फिर इस संबंध में कुछ भी न कर पाने की हमारी असमर्थता से उत्पन्न निराशा और इसलिए उससे पलायन करने के हमारे विभिन्न प्रयास। धैर्य और सावधानी से भरी सजगता द्वारा इन तथ्यों के उद्घाटन के पश्चात् यह बोध जागृत होता है कि द्रष्टा ही दृश्य है। और यह बोध मनुष्य के भीतर किसी तथाकथित ऊर्ध्वगामी और सतोगुणी सत्ता को नहीं होता है (मनुष्य के भीतर उच्चतर चेतना, श्रेष्ठतर सत्ता आदि मात्र आविष्कार और कल्पनाएँ हैं और इनकी भी हमने अपने मन में प्रतिमाएँ बना रखी हैं) बल्कि यह बोध तो स्वयं वह सजगता है जिसने यह प्रकट किया है कि द्रष्टा ही दृश्य है।

अगर आप स्वयं से कोई प्रश्न करें, तो आपके भीतर वह कौन-सी सत्ता है जिसे उसका उत्तर चाहिए ? और वह कौन-सी सत्ता है जो इस प्रश्न के उत्तर की खोज करने जा रही है ? अगर यह सत्ता चेतना

का ही एक हिस्सा है, विचार का ही एक अंश है तब तो यह खोज कर ही नहीं सकती। जो खोज कर सकती है, वह सजगता की एक स्थिति मात्र है। लेकिन सजगता की इस स्थिति में भी अगर कोई सत्ता मौजूद है जो कहती है, "मुझे हर हालत में सजग होना चाहिए, मुझे सजगता की साधना करनी चाहिए", तो यह सजगता नहीं है बल्कि मन में पैठी किसी प्रतिमा का ही शोर-गुल है।

द्रष्टा ही दृश्य है—यह होश और बोध दृश्य के साथ तादात्मीकरण की प्रक्रिया नहीं है। स्वयं का तादात्म्य किसी चीज़ के साथ करना तो एकदम आसान है। हममें से अधिकांश लोग अपना तादात्म्य और पहचान किसी न किसी चीज़ से करते हैं—अपने परिवार से, अपने पति या अपनी पत्नी से, अपने देश से—और हमारा यह कृत्य भीषण संकट और युद्धों को जन्म देता है। लेकिन यहाँ हम इससे एक बिलकुल भिन्न और गहरी चीज़ पर विचार करने जा रहे हैं और हमें इसे शाब्दिक रूप से नहीं बल्कि अपने मर्म की गहराई में, प्राणों के प्राण में समझ लेना चाहिए।

प्राचीन चीन में कलाकार चित्र बनाने के पहले एक अद्‌भुत प्रयोग से गुजरता था। मान लीजिए, किसी कलाकार को एक पेड़ का चित्र बनाना है, तो वह पहले एक पेड़ के सामने जाकर बैठेगा, दिनों, महीनों, वर्षों तक। चाहे जितना समय लगे लेकिन वह तब तक बैठा रहेगा जब तक कि वह ही पेड़ नहीं हो जाता। वह पेड़ से स्वयं का तादात्म्य नहीं करता था बल्कि पेड़ हो जाता था। इसका अर्थ है कि पेड़ और उसके बीच कोई अंतर या अंतराल नहीं बचता था। अर्थात् द्रष्टा और दृश्य के बीच दूरी नहीं बचती थी। द्रष्टा दृश्य में लय हो जाता था। वहाँ कोई अनुभवकर्ता नहीं बचता था जो पेड़ के सौंदर्य का, हवा में झूमती डालियों का, सूर्यकिरणों में चमकती पत्तियों के रंग का अनुभव कर सकता था, क्योंकि कलाकार तो समग्रतः पेड़ हो जाता था। और इसी दशा में जन्म लेती थी उसकी जीवंत चित्रकला।

द्रष्टा ही दृश्य है—अगर यह वोध द्रष्टा को अभी नहीं हुआ है, तो उसकी ओर से की गयी कोई भी गतिविधि प्रतिमाओं की एक नयी श्रृंखला को ही जन्म देगी और इसमें पुनः वह उलझ जायेगा। लेकिन अगर द्रष्टा को यह स्पष्ट बोध है कि द्रष्टा ही दृश्य है, तो कौन-सी घटना घटती है ? आप इस प्रश्न में धीरे-धीरे, अत्यंत धीरे-धीरे उतरें, क्योंकि यह एक वहुत जटिल और गूढ़ चीज़ है जिसकी हम छानबीन करने जा रहे हैं। तो आप पुनः एक बार सोचें—तब कौन-सी घटना घटती है ? वस्तुतः तब द्रष्टा अपना सारा क्रियाकलाप बंद कर देता है ! अब तक तो द्रष्टा सदा यही सोचता रहा, "मुझे इन प्रतिमाओं के संवंध में कुछ न कुछ अवश्य करना चाहिए, मैं उन्हें या तो कुचल दूँगा या उनके रंग-रूप को बदलकर रख दूँगा।" कहने का अर्थ यह कि अव तक द्रष्टा दृश्य के संबंध में सक्रिय रहा है, वह उसपर क्रिया और प्रतिक्रिया करता रहा है—कभी शांत होकर, कभी एकदम व्यग्र और उग्र होकर। लेकिन द्रष्टा की ओर से उठाया गया कोई भी विधायक कदम उसकी पसंद और नापसंदगी का ही नतीजा है—"मुझे यह पसंद है इसलिए मैं इसे अपने पास रखना चाहता हूँ। मुझे यह कतई पसंद नहीं इसलिए मैं इससे अपना पिंड छुड़ाना चाहता हूँ।" लेकिन जब द्रष्टा समझ लेता है कि जिस चीज़ पर उसकी सारी शक्ति कार्य कर रही है वह चीज़ तो वह स्वयं है, तो तत्काल द्रष्टा और प्रतिमा के बीच संघर्ष समाप्त हो जाता है। तब वह स्वयं वही है। वह उससे अलग नहीं है। जब उसने अपने को इससे अलग मान रखा था, तो उसने इस संबंध मे वहुत कुछ करने का प्रयास किया, लेकिन जैसे ही द्रष्टा को पता चल जाता है कि वह स्वयं वही है, तो उसकी पसंद और नापसंदगी विदा हो जाती हैं और इस तरह सारा तनाव और संघर्ष भी समाप्त।

अब करने को बच ही क्या जाता है ! अगर वह चीज़ आप स्वयं हैं तो आप कर क्या सकते हैं ? आप न तो इससे विद्रोह कर सकते हैं, न इससे भाग सकते हैं, यहाँ तक कि आप इसे स्वीकार भी नहीं कर

सकते। यह तो है ही वहाँ। इसलिए पसंद और नापसंदगी की प्रति-क्रिया से उत्पन्न सारे क्रियाकलापों का स्वतः अंत हो जाता है।

तब आप पायेंगे कि एक ऐसी सजगता प्रकट हुई है जो प्रचंड रूप से जीवंत है। यह किसी भी प्रतिमा और प्रश्न से नहीं बँधी है। सजगता की इसी तीव्रता और गहनता से एक सर्वथा भिन्न प्रकार का होश और ध्यान उत्पन्न होता है। चूँकि मन ही यह सजगता है, इसलिए तब मन असाधारण रूप से संवेदनशील और तीक्ष्ण हो जाता है।

तेरह

चिंतन क्या है?—विचार और क्रिया—चुनौती—पदार्थ—विचार का आरंभ।

अब हम इस प्रश्न की छानवीन करें कि चिंतन क्या है। अपने दैनिक जीवन-क्रम में सावधानी के साथ तर्कपूर्ण और विवेक पूर्ण ढंग से किये गये विचार का क्या महत्त्व है, और वह कौन-सा विचार है जिसका कोई महत्त्व नहीं है। जब तक हमें विचार के इन दोनों रूपों की समझ नहीं हो जाती तव तक संभवतः हम उस चीज़ को नहीं समझ सकते जो इससे कहीं गहरी और गूढ़ है, और जिसे विचार छू भी नहीं सकता। चिंतन क्या है, स्मृति क्या है, विचार कैसे उत्पन्न होता है, विचार किस प्रकार हमारे क्रिया-कलापों को संस्कारबद्ध कर देता है—इस पूरे के पूरे जटिल ढाँचे को हम समझने का प्रयास करें इस सब को समझने के क्रम में ही शायद हमारा उस चीज़ से मिलना हो जाये जो विचार की पकड़ में कभी नहीं आ पाता, जहाँ तक पहुँचने के लिए विचार कभी मार्ग और द्वार नहीं बन सकता।

हमारे लिए जीवन भर विचार इतना महत्त्वपूर्ण क्यों बना रहता है? विचार यानी धारणा और मत, जो मस्तिष्क-कोशिकाओं में संचित स्मृति की प्रतिक्रिया है। आपमें से बहुत लोगों के मन में शायद यह प्रश्न कभी उठा भी न होगा, और अगर उठा भी होगा तो आपने कहा होगा, "इसका महत्त्व ही क्या है, महत्त्व तो भावना का है।" लेकिन आप इन दोनों को अलग कर कैसे सकते हैं? अगर विचार भावना को प्रवाह और सातत्य न दे, तो भावना बहुत जल्दी मर जाती है। हमारे दैनिक जीवन में—इस भय, ऊब और संघर्ष से आक्रांत जीवन में—विचार ने इतना महत्त्व कैसे प्राप्त कर लिया है? यह आप स्वयं से पूछिये, जैसे मैं स्वयं से पूछ रहा हूँ—आखिर व्यक्ति विचार का गुलाम क्यों है? —धूर्त और चालाक

विचार, जो संगठित कर सकता है, जो नित्य नयी चीजों की शुरुआत कर सकता है, जिसने इतना कुछ आविष्कार कर डाला है, इतने सारे युद्धों को जन्म दिया है, इतना भय, चिंता और उपद्रव पैदा किया है, जो हर हमेशा प्रतिमाएँ बनाने में लगा है और जो अपनी ही पूँछ को पकड़ने का प्रयास कर रहा है ? विचार--जिसने अतीत के सुखों का भोग किया है और जिसे वह वर्तमान और भविष्य में भी कायम रखना चाहता है। विचार—जो सदा सक्रिय और गतिशील है तथा जो हमेशा शोर-गुल करने में, निर्माण करने में, जोड़ने-घटाने में और अनुमान एवं कल्पना करने में व्यस्त है।

हमारे लिए धारणा और विचार क्रिया से भी कहीं अधिक महत्त्व पूर्ण हो गये हैं। विचार—जो हर क्षेत्र के बुद्धिजीवियों द्वारा इतनी होशियारी और पटुता से पुस्तकों में व्यक्त किये गये हैं। विचार जितने ही सूक्ष्म और कुटिल होते हैं, उतनी ही हम उनकी और उनसे संबंधित पुस्तकों की पूजा करते हैं। इन विचारों और पुस्तकों ने हमें इस बुरी तरह प्रभावित और संस्कारबद्ध कर डाला है कि मनोवैज्ञानिक रूप से हम स्वयं ये विचार और पुस्तक हो गये हैं। चारों ओर लोग विभिन्न विचारों और आदर्शों की चर्चा कर रहे हैं और तार्किक रूप से उनपर अपना-अपना मत प्रकट कर रहे हैं। प्रत्येक धर्म का अपना-अपना मत और फार्मूला है तथा ईश्वर तक पहुँचने के लिए उन्होंने अपनी-अपनी सीढ़ियाँ बना रखी हैं। जब हम विचार की उत्पत्ति और इसके आरंभ की छानबीन कर रहे हैं, तो हम मनुष्य के बनाये हुए विचार के इस पूरे महल के महत्त्व पर अपना प्रश्न खड़ा कर रहे हैं। हम यहाँ जानबूझकर विचार को क्रिया से अलग रख रहे हैं, क्योंकि विचार सदा अतीत से जुड़ा हुआ है, जबकि क्रिया साक्षात् वर्तमान है अर्थात् जीना 'वर्तमान में होना' है। लेकिन चूँकि हम जीने से डरते हैं, इसलिए विचार के रूप में अतीत हमारे लिए इतना महत्त्वपूर्ण हो गया है।

अपने ही मन में उठते हुए विचारों को देखना सचमुच कितना रोचक और मजेदार है! कैसे कोई सोचता है, इसका निरीक्षण

करना—वह प्रतिक्रिया जिसे विचार कहा जाता है, कहाँ से निकलता और प्रकट होता है। स्पष्टतः स्मृति से। क्या विचार का कोई आरंभ क्षण या आरंभ-बिंदु होता है ? अगर होता है, तो क्या हम उसे पकड़ सकते हैं ? क्योंकि वहीं पर स्मृति की गतिविधि शुरू हो जाती है। अगर हमारे पास स्मृति हो ही न, तो विचार कहाँ से आयेगा !

हम देख चुके हैं कि किस तरह विचार, कल हमने जो सुख पाया, उसके अस्तित्व और सातत्य को कायम रखता है। इसी तरह यह सुख के विपरीत दुःख और भय को भी बनाये रखता है। इस तरह अनुभवकर्ता—जो विचारकर्ता है—स्वयं वह सुख और दुःख है और वही वह सत्ता भी है जो सुख और दुःख को पोषण और जीवन देता है। लेकिन विचारकर्ता सुख को दुःख से अलग कर लेता है। वह यह नहीं देख पाता कि सुख की चाह और माँग के कारण ही वह भय और दुःख को निमंत्रित कर रहा है। मनुष्य के परस्पर संबंधों में विचार हमेशा सुख की माँग करता है, लेकिन उसने इसे छिपाने के लिए कुछ आकर्षक और भड़कीले शब्द गढ़ लिये हैं, जैसे—निष्ठा एवं वफा, बाँटना, दान करना, सहारा देना, सहायता और सेवा करना। मुझे आश्चर्य होता है कि हम सेवा करने पर इतने क्यों तुले रहते हैं ! पेट्रोल पंप का स्टेशन बड़ी अच्छी सेवा देता है। इन शब्दों का क्या अर्थ है ?—देना, सहायता करना, सेवा करना। आखिर यह सेवा करना क्यों, किसलिए ? रंग, सौंदर्य और सुवास से भरा फूल क्या कभी कहता है, "मैं बाँट रहा हूँ, सहायता और सेवा कर रहा हूँ ?" फूल तो बस केवल 'है' ! और चूँकि यह कुछ करने की चेष्टा नहीं कर रहा है, इसलिए यह पूरी पृथ्वी पर छाया हुआ है।

विचार इतना कुटिल होता है कि वह अपनी सुविधा के लिए हर चीज़ को तोड़-मरोड़कर विकृत कर देता है। सुख पाने के प्रयास में विचार अपने लिए केवल बंधन और दासता पैदा करता है। हमारे सभी परस्पर संबंधों में विचार के कारण ही द्वैत पैदा होता है। हम सबों के भीतर हिंसा मौजूद है जो एक तरह का हमें सुख देती है,

लेकिन हमारे भीतर शांति की भी इच्छा है, भद्र और दयालु होने की भी चाह है। यह द्वैत हमारे जीवन में हर समय चलता रहता है। इस द्वैत और विसंगति का जन्मदाता विचार है। इसके अतिरिक्त विचार हमारे सुख और दुःख की स्मृतियों का संचय करता है और इन्हीं स्मृतियों से इसका पुनर्जन्म होता रहता है। अतः जैसा मैंने पहले ही कहा, विचार अतीत है, विचार सदा पुराना है।

चुनौती अपने आप में सर्वदा नयी होती है। लेकिन चूँकि हम हर चुनौती का सामना अतीत की भाषा में करते हैं इसलिए हमारा यह सामना करना बिलकुल अधूरा और अपर्याप्त होता है। यही कारण है कि हम विसंगति, संघर्ष, दुःख और दुर्दशा के शिकार हो जाते हैं। हमारा छोटा-सा मस्तिष्क चाहे यह जो कुछ करे, हमेशा संघर्ष में रहता है। चाहे यह अनुकरण और अनुसरण करे, दमन करे, बदलने की कोशिश करे, नयी ऊँचाइयों को छूना चाहे, नयी अनुभूति पाने के लिए या अपने को फैलाने के लिए नशों का सेवन करे—अर्थात् संघर्ष में डूबा यह मन और मस्तिष्क चाहे जो कुछ भी करे, वह इसके लिए एक नये संघर्ष का कारण बन जायेगा।

जो लोग बहुत अधिक सोचने-विचारने का काम करते हैं, वे उतने ही पदार्थवादी होते हैं—क्योंकि विचार पदार्थ है। विचार पदार्थ है उतना ही जितना कि आपके कमरे का फर्श, दीवार या टेलीफोन पदार्थ है। ऊर्जा जब एक ढाँचे के भीतर कार्य करती है तो पदार्थ बन जाती है। इस तरह जगत में ऊर्जा का भी अस्तित्व है और पदार्थ का भी। पूरा जीवन यानी यह पूरी सृष्टि इन्हीं दोनों का खेल है। भले ही हमें यह पता न चले, लेकिन विचार पदार्थ है। विचारधारा और सिद्धांत के रूप में विचार कुछ नहीं बल्कि पदार्थ है। तो जहाँ भी ऊर्जा है, वहाँ पदार्थ हो सकता है। पदार्थ और ऊर्जा परस्पर संबंधित हैं। एक के बिना दूसरे का अस्तित्व संभव नहीं है। और इन दोनों के बीच जितना ही सामंजस्य और तालमेल होगा उतना ही संतुलन पैदा होगा, मस्तिष्क की कोशिकाएँ उतनी ही सक्रिय होंगी। विचार ने

सुख, पीड़ा और भय के एक ढाँचे को खड़ा कर लिया है और इसी के भीतर वह हजारों वर्षों से कार्यरत है। विचार के लिए इस ढाँचे को तोड़ पाना असंभव है, क्योंकि यह ढाँचा विचार द्वारा ही निर्मित है।

एक नये तथ्य को विचार तत्काल नहीं देख पाता। वह इसे बाद में समझ सकता है, शाब्दिक रूप से। अगर कोई तथ्य बिलकुल ही नया हो, तो वह विचार के लिए वास्तविकता नहीं है, इसलिए वह विचार की समझ से परे है। विचार किसी मनोवैज्ञानिक समस्या को कभी हल नहीं कर सकता। विचार चाहे कितना ही धूर्त, चालाक और पंडित हो, आवश्यकता या बाध्यतावश चाहे यह कितना ही वैज्ञानिक निर्माण कर ले, नया से नया कंप्यूटर बना ले, लेकिन विचार स्वयं पुराना का पुराना ही रहता है, इसलिए यह किसी भी जबरदस्त और प्रचंड प्रश्न के सामने निरुत्तर हो जाता है। पुराना मस्तिष्क भला जीने की असीम समस्या को कैसे हल कर सकता है!

विचार बेईमान और चालबाज होता है, क्योंकि यह जो चाहे गढ़ लेता है, जो है ही नहीं उसे भी देख लेता है। यह किसी भी तरह की चालाकी कर सकता है, इसलिए इस पर निर्भर नहीं रहा जा सकता। लेकिन आप क्यों सोचते हैं, कैसे सोचते हैं, इसके पूरे ढाँचे को अगर आप समझते हैं तथा जिन शब्दों का आप प्रयोग करते हैं, अपने दैनिक जीवन में लोगों से आप जिस ढंग से मिलते-जुलते हैं और व्यवहार करते हैं, आपके बात करने का जो ढंग है, आपके चलने का जो ढंग है, आपके खाने का जो ढंग है—अगर आप इस सब के प्रति सजग, सतर्क और सचेत रहते हैं, तो आपका मन आपको धोखा नहीं दे सकता। तब वहाँ कोई धोखा खानेवाला भी नहीं होता। तब मन किसी चीज़ की माँग नहीं करता, किसी चीज़ का मालिक नहीं होना चाहता। तब यह हावी होने की कोशिश नहीं करता। ऐसा मन असाधारण रूप से शांत, संवेदनशील, कोमल और एकाकी हो जाता है और ऐसी अवस्था में किसी भी तरह का धोखा और छल-कपट असंभव है।

क्या आपने कभी गौर किया है कि जब आप पूरे ध्यान की अवस्था में होते हैं तो द्रष्टा, विचारकर्ता, भीतर का केंद्र, 'मैं' का अंत हो जाता है ? क्योंकि ध्यान की इस अवस्था में विचार सूखने और मुरझाने लगता है।

अगर कोई व्यक्ति किसी चीज़ को अत्यंत साफ और स्पष्ट रूप से देखना चाहता है, तो उसका मन एकदम शांत होना चाहिए। उस समय यह आवश्यक है कि मन से सारे शोर-गुल और शब्दों को, पूर्वाग्रहों, प्रतिमाओं और चित्रों को अलग कर दिया जाये। और इसी शांत स्थिति में आप विचार के उदय और आरंभ को देख सकते हैं—न कि जब आप किसी चीज़ की खोज कर रहे हैं, प्रश्न पैदा कर रहे हैं और उनके उत्तर की प्रतीक्षा कर रहे हैं। विचार का आरंभ-क्षण कौन सा है—स्वयं से यह प्रश्न करने के बाद जब आप पूर्ण रूप से मौन और चुप हो जाते हैं, अपने पूरे अस्तित्व से तो इस मौन और चुप्पी में ही आप देखने लगते हैं कि विचार किस तरह आकार लेता हैं।

अगर इस बात का पूरा होश और ध्यान हो कि विचार किस तरह आरंभ होता है, तो उसको नियंत्रित करने की आवश्यकता ही नहीं पड़ती। हम अपने जीवन का बहुत सारा समय और ढेर सारी ऊर्जा बर्बाद कर डालते हैं न केवल अंपने दैनिक क्रियाकलापों में बल्कि विचार को नियंत्रित और दिशा-निर्देश करने में, जैसे—"यह एक अच्छा विचार है, मुझे इसपर और अधिक सोचना चाहिए। यह एक भद्दा और कुरूप विचार है, मुझे इसे तुरंत दबा देना चाहिए।" इस तरह एक विचार और दूसरे विचार के बीच हर समय युद्ध चलता रहता है, एक इच्छा दूसरी सभी इच्छाओं को, एक सुख दूसरे सभी सुखों को दबाने में लगा रहता है। लेकिन अगर विचार के आरंभ के प्रति सजगता और होश हो, तो विचार के भीतर कोई विसंगति या अंतर्विरोध नहीं होता।

"विचार सदा पुराना है" या "समय ही दुःख है"—जब आप इस तरह के वक्तव्यों को सुनते हैं, तो विचार तत्काल इसका रूपांतर और व्याख्या करने लगता है। लेकिन यह रूपांतर और व्याख्या बीते हुए कल के अनुभव और ज्ञान पर आधारित है। आप इसकी व्याख्या निश्चय ही अपनी संस्कारबद्ध मानसिकता के अनुसार करेंगे। लेकिन अगर आप इन वक्तव्यों को केवल देखें और इनकी व्याख्या न करें, बस उनकी ओर अपना पूरा ध्यान (एकाग्रता नहीं) दें, तो आप पायेंगे कि वहाँ न देखनेवाला बचा और न देखी जानेवाली वस्तु, न विचार करनेवाला बचा न विचार। यह मत पूछें, "पहले किसका अस्तित्व है ?" यह एक होशियारी भरा तर्क है जिससे कुछ हल नहीं होता। आप अपने भीतर यह देख सकते हैं कि जब तक आप विचारों से खाली रहते हैं—जिसका अर्थ यह नहीं है कि आप स्मृतिलोप या विस्मरण के शिकार हो गये—जब तक स्मृति, अनुभव और ज्ञान, अर्थात् अतीत से उत्पन्न विचार अनुपस्थित रहता है तब तक वहाँ विचारकर्ता का कोई अस्तित्व नहीं होता। यह कोई दार्शनिक या रहस्यवादी मामला नहीं है। हम यहाँ वास्तविक तथ्यों की बात कर रहे हैं। और अगर आप इस यात्रा में यहाँ तक चलते चले आये हैं, तो आप देखेंगे कि आप किसी चुनौती का सामना पुराने मस्तिष्क से नहीं करेंगे। तब हर चुनौती आपके लिए नयी होगी और आप उसका सामना एकदम नये ढंग से करेंगे।

चौदह

बीते हुए कल का बोझ—शांत मन—संवाद—उपलब्धि—अनुशासन—मौन—सत्य और वास्तविकता।

सामान्यतया जिस ढंग का जीवन हम बिताते हैं उसमें शायद ही कभी एकांत मिलता है। अगर कभी हम एकांत में होते भी हैं, तो अनेक तरह के प्रभाव, अनुभव, ज्ञान, तथा स्मृतियाँ, चिंताएँ, संघर्ष, और दुःख हमें चारों ओर से घेरे रहते हैं। इन्हीं चीजों के कारण हमारा मन अधिक से अधिक मंद, मूढ़ और असंवेदनशील हो जाता है। यह हर रोज एक ही ढर्रे के बँधे-बँधाये जीवन को जिये चला जाता है। तो क्या हम सही अर्थों में कभी एकाकी हो पाते हैं ? या हम सदा अपने साथ बीते हुए कल के बोझ को ही ढोते चल रहे हैं ?

दो संन्यासियों के संबंध में एक रौचक और अर्थपूर्ण कहानी है। एक बार दो संन्यासी किसी एक गाँव से दूसरे गाँव को चले जा रहे थे। रास्ते में अचानक उनकी नजर एक युवा लड़की पर पड़ी, जो नदी के किनारे बैठी रो रही थी। उनमें से एक संन्यासी उस लड़की के पास जाकर बोला, "बहन, तुम किसलिए रो रही हो ?" उस लड़की ने कहा, "नदी के उस पार जो घर तुम देख रहे हो, वहीं मैं रहती हूँ। आज सबेरे जब मैं इस पार आयी, तो बिना किसी कठिनाई के मैं पैदल चलकर नदी पार कर गयी, किंतु अचानक नदी में पानी बढ़ गया है, इसलिए मैं अब घर नहीं लौट सकती। कोई नाव भी नहीं है।" उस संन्यासी ने कहा, "यह कोई बड़ी समस्या नहीं है, मैं तुम्हारी सहायता करता हूँ।" और यह कहकर उसने लड़की को अपने कंधे पर उठा लिया और उस पार जाकर रख आया। लौटकर वह पुनः अपने संन्यासी मित्र के साथ यात्रा पर चल पड़ा। कोई दो घंटे बाद दूसरा संन्यासी पहले संन्यासी से बोला, "भाई, हमलोगों ने व्रत लिया था कि कभी किसी औरत को

नहीं छुएंगे। इसलिए तुमने आज जो कुछ किया है वह एक घोर पाप है। क्या तुम्हें उस औरत को छूने पर सुख, रोमांच और एक गहरी उत्तेजना की अनुभूति नहीं हुई?" दूसरे संन्यासी ने उत्तर दिया, "मैं तो उस औरत को दो घंटे पीछे छोड़ आया, क्या तुम उसे अभी तक ढो रहे हो?"

और वही हम सभी कर रहे हैं। जो बीत गया उसके बोझ को हम ढोते चल रहे हैं। उसके प्रति हम कभी नहीं मरते। उसे हम अपने से कभी अलग नहीं करते। तो सही अर्थों में हमारे जीवन में एकांत तभी होता है जब हम हर समस्या को अपना पूरा ध्यान देते हैं और उसे तत्काल हल कर लेते हैं, उसे अगले दिन या अगले मिनट तक ढोते नहीं चलते। तब हम भले ही लोगों से भरे हुए एक घर में रह रहे हों या खचाखच भरे बस में सफर कर रहे हों—हम सदा एकांत में ही होते हैं। और इस एकांत का अर्थ है—एक निष्कलुष और ताजा मन।

आंतरिक रूप से एकांत और अवकाश (विस्तार और फैलाव) को पाना अत्यंत आवश्यक है, क्योंकि इससे ऐसा बोध होता है कि आप कुछ करने के लिए, होने-जाने के लिए बिलकुल स्वतंत्र हैं—मानो आप उन्मुक्त आकाश में उड़ान भर रहे हों। इस विस्तार और फैलाव अर्थात् अवकाश में ही अच्छाई का जन्म हो सकता है, ठीक वैसे ही जैसे केवल मुक्ति और स्वतंत्रता में सद्‌गुण खिल सकता है। हमारे पास राजनीतिक स्वतंत्रता भले ही हो, लेकिन हम आंतरिक रूप से स्वतंत्र नहीं हैं और इसीलिए हमारे भीतर विस्तार और फैलाव नहीं है। अपने भीतर इस विराट् विस्तार और फैलाव के बिना कोई भी सार्थक सद्‌गुण और गुणवत्ता न विकसित हो सकती है और न कार्य कर सकती है। विस्तार और मौन आवश्यक हैं। जब मन एकाकी, अप्रभावित, अप्रशिक्षित होता है अर्थात् जब वह असंख्य प्रकार के अनुभवों द्वारा बँधा नहीं होता, तभी वह एक ऐसी चीज़ का साक्षात्कार कर सकता है जो समग्रत: नयी है।

आप इसे आसानी से देख सकते हैं कि हमारे मन के अन्दर, अर्थात् हमारी दृष्टि और हमारे विचार में स्पष्टता तभी संभव है जब हमारा

मन शांत और मौन हो। मन की इसी अवस्था को पाने के लिए पूर्वी देशों में लोग ध्यान का इतना प्रयोग करते हैं। वे प्रयास करते हैं कि विचार को किसी तरह नियंत्रित कर लें—वैसे ही जैसे कुछ लोग मंत्रों के बार-बार जप द्वारा मन को शांत करने की कोशिश करते हैं, इस आशा में कि शांत मन की अवस्था में वे अपनी समस्याओं को समझ सकेंगे। लेकिन जब तक व्यक्ति पहले ध्यान की नींव नहीं रखता अर्थात् जब तक वह भय, दुःख, चिंता और अपने ही बनाये फंदों और जालों से मुक्त नहीं हो जाता तब तक मन भला शांत कैसे हो सकता है! लेकिन यह बात किसी तक पहुँचा पाना कठिन से कठिन चीज़ है। हमारे बीच संवाद का अर्थ है कि आपको न केवल उन शब्दों को समझना चाहिए जिनका मैं प्रयोग कर रहा हूँ बल्कि हम दोनों को, आपको और मुझको, एक ही समय में तीव्र और गहन होना चाहिए, एक क्षण पहले या एक क्षण बाद नहीं। साथ-साथ हमें एक ही तल पर मिलने में समर्थ होना चाहिए। लेकिन आप जो पढ़ रहे हैं, अगर आप उसकी व्याख्या कर रहे हैं अपने ज्ञान, मतों और सुख - सुविधा के अनुसार या अगर इसे समझने के लिए आप एड़ी-चोटी का जोर लगा रहे हैं, तो फिर हमारे बीच यह संवाद शायद ही संभव है।

मुझे ऐसा लगता है कि कहीं पहुँचने के लिए, कुछ पाने और अर्जित करने के लिए यह सतत संघर्ष ही हमारे जीवन में बड़ी से बड़ी बाधा और रुकावट है। हमें बचपन से ही सिखा-पढ़ाकर तैयार किया जाता है कि हम कुछ अर्जित करें, कुछ उपलब्ध करें। इस तरह भौतिक सुरक्षा की चाह और खोज में हमारे मस्तिष्क की कोशिकाएँ 'उपलब्धि' का एक ढाँचा खड़ा करने में लग जाती हैं। लेकिन मनोवैज्ञानिक सुरक्षा उपलब्धि की वस्तु है ही नहीं। हम अपने सभी आपसी संबंधों में, रवैयों में और क्रियाकलापों में सुरक्षा की खोज करते हैं, लेकिन जैसा कि हम पहले ही देख चुके हैं, सुरक्षा-जैसी कोई चीज़ होती ही नहीं। अगर हम यह अच्छी तरह समझ लें कि आपसी संबंधों में किसी भी तरह की सुरक्षा की खोज व्यर्थ है, तथा यह भी कि मनोवैज्ञानिक रूप से कुछ भी स्थायी नहीं है, तो यह समझ और बोध

जीवन के प्रति हमारे दृष्टिकोण और पहुँच को पूरी तरह बदल देता है। बाहरी सुरक्षा—भोजन, वस्त्र और आवास--निश्चय ही अत्यंत आवश्यक है, लेकिन मनोवैज्ञानिक सुरक्षा की चाह और खोज ही इस बाहरी सुरक्षा के लिए बाधा बन जाती है। चेतना की सीमाओं के पार जाने के लिए मौन (निर्विचार अवस्था) एवं अवकाश (विस्तार और फैलाव) आवश्यक है। लेकिन जो मन अपने हित की चिंता में निरंतर सक्रिय है वह भला शांत कैसे हो सकता है ! आप मन को अनुशासित और नियंत्रित कर सकते हैं, एक निश्चित साँचे में ढाल सकते हैं, लेकिन मन को इस तरह यातना देकर और सताकर आप शांत नहीं कर सकते। इससे तो मन केवल मंद और मूढ़ होता है। अगर मन को शांत करने का आपने एक संकल्प या आदर्श बना रखा है, तो इसका कोई मूल्य नहीं है, क्योंकि आप मन पर जितना ही जोर-जबरदस्ती करेंगे उतना ही वह संकीर्ण और जड़वत् हो जायेगा। मन पर किसी भी तरह का नियंत्रण या दमन केवल संघर्ष पैदा करता है। इसलिए नियंत्रण और बाहरी अनुशासन सही मार्ग नहीं है। लेकिन जो जीवन गहरे और वास्तविक अर्थों में अनुशासित नहीं है उसका भी कोई मूल्य नहीं है।

हमारा परिवार, हमारा दुःख और कष्ट, हमारा अनुभव, सैद्धांतिक या व्यावहारिक ढाँचों में हमारी आस्था, समाज की माँगें—ये सभी चीजें हमारे जीवन को बाहरी रूप से अनुशासित करने के लिए दबाव डालती हैं। अनुशासन का यह रूप सबसे घातक है। अनुशासन का सहज रूप वह है जिसमें नियंत्रण, दमन और किसी तरह का भय बिलकुल ही न हो। लेकिन यह अनुशासन किस तरह घटित हो सकता है ? और ऐसा भी नहीं है कि अनुशासन पहले और मुक्ति बाद में। वस्तुतः मुक्ति प्रारंभ में ही है, अंत में नहीं। इस मुक्ति को समझना--मुक्ति यानी अनुशासनबद्धता से मुक्ति—ही अनुशासन है। स्वयं का निरीक्षण करते हुए सीखना ही अनुशासन है। इसलिए स्वयं को पूरी तरह जाने और सीखे बिना अनुशासन संभव नहीं है। और यह सीखने की क्रिया ही समझ की स्पष्टता बन जाती है। नियंत्रण, दमन,

भोग और आसक्ति के पूरे स्वरूप और पूरे ढाँचे को समझने के लिए होश और ध्यान आवश्यक है। इसका अध्ययन करने के लिए आपको ऊपर से अनुशासन नहीं थोपना पड़ेगा, बल्कि अध्ययन करने की क्रिया स्वत: उस सहज अनुशासन को जन्म देती है जिसमें दमन मौजूद नहीं होता।

सत्ता को नकारने के लिए (हम यहाँ मनोवैज्ञानिक सत्ता की बात कर रहे हैं, कानून या सरकार की नहीं)—धार्मिक संस्थाओं, परंपराओं और अनुभूति की सत्ता को नकारने के लिए आपको यह देखना पड़ेगा कि आप इनके आदेशों और नियमों को क्यों मानते हैं आप इसका ठीक-ठीक अध्ययन करें। इसका अध्ययन करने के लिए आपको निजी मतों से, निंदा, समर्थन और स्वीकृति से मुक्त होना चाहिए। हम सत्ता को स्वीकार भी कर लें और इसका अध्ययन भी करना चाहें—यह नामुमकिन है। अपने भीतर सत्ता के पूरे मनोवैज्ञानिक ढाँचे का अध्ययन करने के लिए मुक्ति पहले आवश्यक है। जब हम इसका अध्ययन कर रहे हैं, तो हम इसके ढाँचे को पूरी तरह अस्वीकार कर रहे हैं। और जब हम अस्वीकार करते हैं, तो यह अस्वीकृति ही सत्ता से मुक्त मन की एक ज्योति है। वह हर चीज़ जो अब तक सार्थक मानी जाती रही है, जैसे बाहरी अनुशासन, गुरु-शिष्य की परंपरा, आदर्श--इन सभी का निषेध करने का अर्थ है, इनका अध्ययन करना। तब यह अध्ययन करने की क्रिया ही न केवल अनुशासन है बल्कि इनका निषेध भी। आपका नकार तब एक विधायक कृत्य है। मन को शांत करने के लिए जो चीजें अब तक महत्त्वपूर्ण और मूल्यवान समझी जाती रही हैं, हम उन सभी का एक साथ निषेध कर रहे हैं।

इस तरह हम देखते हैं कि नियंत्रण द्वारा मन का शांत और चुप होना संभव नहीं है। न ही जब मन किसी वस्तु पर एकाग्र होता है तो यह वस्तुत: शांत होता है, क्योंकि तब वह वस्तु मन को अपने में उलझाये रखती है। यह इसी तरह है जैसे अगर आप किसी बच्चे को एक मजेदार खिलौना दे दीजिए, तो वह उसमें उलझकर बिलकुल शांत हो

जाता है। अगर आप वह खिलौना वहाँ से हटा लीजिये, तो वह पुनः अपनी शरारत पर उतर आता है। हम सब किसी न किसी खिलौने में उलझे हुए हैं। कुछ लोगों के लिए यह खिलौना उनका पूजा-पाठ, मंत्र-जप इत्यादि है। या अगर कोई व्यक्ति किसी खास ढंग के कार्य और गतिविधि, जैसे साहित्यिक, सांस्कृतिक, सामाजिक या वैज्ञानिक कार्य और गतिविधि के प्रति समर्पित हो जाता है, तो यही उसका खिलौना बन जाता है। जो व्यक्ति खिलौनों में उलझकर शांत हो गया है वह वस्तुतः शांत नहीं है।

मौन क्या है ? शोर के बंद होने पर या विचार के ठहर जाने पर जो एक मौन होता है, हम केवल उसे जानते हैं—लेकिन वह मौन नहीं है। मौन तो कुछ ऐसा है जो सर्वथा भिन्न है—जैसे सौंदर्य, जैसे प्रेम। और यह मौन एक शांत मन की उपज नहीं है। यह मौन मस्तिष्क-कोशिकाओं की भी देन नहीं है जो सारी बातों को सुनने-समझने के बाद स्वयं से कहती हैं, "भगवान् के लिए शांत हो जाओ !" क्योंकि तब मस्तिष्क की कोशिकाएँ मौन साध लेती हैं—किंतु वह वास्तविक मौन नहीं है। न ही यह मौन उस सावधानी और चौकसी का नतीजा है जिसमें द्रष्टा दृश्य हो जाता है। द्रष्टा के दृश्य हो जाने पर संघर्ष यद्यपि विदा हो जाता है, लेकिन यह मौन की अवस्था नहीं है।

आप इस प्रतीक्षा में हैं कि मैं इसका वर्णन कर दूँ कि यह मौन क्या है ताकि आप इसकी व्याख्या कर सकें, तुलना कर सकें या इस वर्णन को अपने साथ ढोकर लेते जायें और संजोकर रख लें। इस मौन का वर्णन किया ही नहीं जा सकता। जिसका वर्णन किया जा सकता है वह ज्ञात है। अर्थात् केवल ज्ञात का ही वर्णन किया जा सकता है, अज्ञात का नहीं। और ज्ञात से मुक्ति तभी संभव है जब आप हर दिन ज्ञात के प्रति यानी अपने सभी अनुभवों के प्रति, दूसरों से प्राप्त निंदा और स्तुति के प्रति, आपने स्वयं जो प्रतिमाएँ निर्मित की हैं उन सबके प्रति आप मरते चले जायें। इन सबों के प्रति आप हर रोज मरते रहें ताकि आपके मस्तिष्क की कोशिकाएँ ताजा, युवा और निर्दोष बनी

रहें। लेकिन ताजगी, निर्दोषता, सौम्यता और कोमलता की यह गुणवत्ता प्रेम को जन्म नहीं देती, क्योंकि यह सौंदर्य और मौन की गुणवत्ता नहीं है।

यह मौन, जो शोर के बंद होने का मौन नहीं है, केवल एक छोटा-सा आरंभ है। यह ऐसा है मानो एक छोटे-से छिद्र से होते हुए कोई व्यक्ति एक असीम और अनंत सागर में पहुँच जाये—एक ऐसी समयातीत अवस्था जिसकी कोई थाह नहीं है। लेकिन इसे आप शाब्दिक रूप से भी तब तक नहीं समझ सकते जब तक आप चेतना के पूरे ढाँचे को तथा सुख-दुःख और निराशा के अर्थ को समझ नहीं लेते, तथा जब तक स्वयं मस्तिष्क की कोशिकाएँ भी शांत नहीं हो जातीं। तब शायद आपका उस रहस्य से साक्षात्कार हो जाये जिसे कोई व्यक्ति आपसे प्रकट नहीं कर सकता और जिसे कोई चीज़ नष्ट नहीं कर सकती। एक जीवंत मन का अर्थ है, एक निश्चल मन। एक जीवंत मन वह मन है जिसके पास कोई केंद्र नहीं है, इसलिए वहाँ न समय है न स्थान—अर्थात् न देश, न काल। ऐसा मन असीम और अनंत है—और यही एकमात्र सत्य है, यही एकमात्र वास्तविकता है।

पंद्रह

अनुभूति—तृप्ति—द्वैत—ध्यान

हम सभी किसी न किसी तरह की अनुभूति का स्वाद पाना चाहते हैं—गुह्य या रहस्यात्मक अनुभूति, आध्यात्मिक अनुभूति, कामवासना की अनुभूति या बहुत रुपया-पैसा, धन-दौलत, पद-प्रतिष्टा, शक्ति और धाक रखने की अनुभूति। जैसे-जैसे हम बड़े होते हैं, शारीरिक भूख की माँगों से हमें छुटकारा मिलने लगता है, लेकिन तब हम अधिक विस्तृत, गहरी और महत्त्वपूर्ण अनुभूति की खोज करने लगते हैं। इस अनुभूति को पाने के लिए हम विभिन्न साधनों और उपायों का सहारा लेते हैं। कुछ लोग अपनी चेतना के भीतर एक फैलाव का अनुभव करने के लिए विभिन्न उपायों का प्रयोग करते हैं, लेकिन यह मात्र एक चालबाजी है। प्राचीन समय में लोग एक विशेष पेड़ की पत्तियों को चबा लिया करते थे, और अब लोग रासायनिक द्रव्यों का सेवन करने लगे हैं। इस तरह दीर्घकाल से लोग इन युक्तियों का सहारा लेते आये हैं। और इस सबसे होता है केवल इतना कि अस्थायी रूप से मस्तिष्क की कोशिकाओं के भीतर एक परिवर्तन आ जाता है, जिसके फलस्वरूप आपकी संवेदनशीलता और दृष्टिशक्ति कुछ क्षणों के लिए बढ़ जाती है और इससे आपको एक अद्भुत और अपूर्व सत्य के दर्शन का आभास होता है। लेकिन यह अधिक से अधिक अनुभूतियों की चाह और खोज मनुष्य की आंतरिक दरिद्रता का ही परिचायक है। हम सोचते हैं कि इन अनुभूतियों के द्वारा हम स्वयं से पलायन कर सकते हैं, लेकिन ये अनुभूतियाँ हम 'जो हैं' उसी से प्रभावित और संस्कारित हैं। अगर मन क्षुद्र, ईर्ष्यालु, चिताग्रस्त हो, तो भले ही यह आधुनिकतम मादक द्रव्यों का सेवन ही क्यों न करे, लेकिन यह केवल अपनी ही तुच्छ कृतियों का दर्शन करेगा, अपनी ही कल्पनाओं और प्रक्षेपणों को देखेगा जो इसकी संस्कारबद्ध पृष्ठभूमि की उपज हैं।

हमें प्रायः ऐसी अनुभूति की तलाश रहती है जो परम तृप्तिदायी और चिरस्थायी हो, जो विचारों की भीड़भाड़ में खो जानेवाली न हो। तो ऐसी अनुभूति की तलाश के पीछे तृप्ति की ही चाह है और यह तृप्ति की माँग ही हमारी अनुभूति की रूपरेखा तय करती है। इसलिए न केवल हमें तृप्ति के पूरे स्वरूप और ढाँचे को समझना है बल्कि हर अनुभूति में जो चीज़ अनुभव की जाती है उसकी भी हमें जाँच-पड़ताल करनी है। हमारे लिए एक गहरी तृप्ति का अर्थ है, एक महान् सुख। इस तरह अनुभूति जितनी स्थायी, गहरी और भव्य होती है, उतनी ही यह सुखद होती है—अतः सुख ही उस अनुभूति के रंग-रूप का निर्धारण करता है जिसकी हम तलाश कर रहे हैं और सुख ही वह पैमाना है जिससे हम हर अनुभूति को मापते हैं। और जो कुछ भी मापा जा सकता है वह विचार के जगत का ही एक हिस्सा है और इसलिए वह भ्रम उत्पन्न करनेवाला है। तो आपको अद्‌भुत और अपूर्व अनुभूतियाँ हो सकती हैं, लेकिन वस्तुतः आप केवल भ्रम और धोखे के शिकार हो रहे हैं। आपको जिन चीज़ों का दर्शन होगा वह निश्चित रूप से आपके संस्कारबद्ध मन का ही एक खेल होगा। बहुत से लोगों को कृष्ण का, क्राइस्ट का, बुद्ध का या जिसमें उनकी आस्था है उसका दर्शन हो जाता है। और आप जितने ही बड़े आस्तिक और उपासक हैं अर्थात् आपकी आस्था और निष्ठा जितनी ही अधिक है उतना ही यह दर्शन आपको सही और सच मालूम पड़ेगा। लेकिन यह सब वस्तुतः आपकी इच्छाओं और कल्पनाओं का ही प्रक्षेपण है।

अगर आप किसी मौलिक चीज़ की खोज कर रहे हैं, जैसे, सत्य क्या है, और अगर आपने सुख को ही अपना मानदंड बना रखा है, तो इसका अर्थ है कि सत्य की अनुभूति कैसी होगी, यह पहले ही आपने प्रक्षेपित और कल्पित कर ली है—इसलिए आपकी खोज की सारी सार्थकता यहीं समाप्त हो जाती है।

अनुभूति से हमारा तात्पर्य क्या है ? किसी भी अनुभूति में क्या कोई भी चीज़ नयी या मौलिक होती है ? मनुष्य का अनुभव स्मृतियों

का भंडार है और इसी अनुभव से मनुष्य हर चुनौती का सामना करता है और उसका उत्तर देता है, इसलिए यह उत्तर मनुष्य की पृष्ठभूमि की उपज है। आप अपने अनुभव के विश्लेषण और व्याख्या में जितने ही कुशल और माहिर हैं उतनी ही तत्परता से आपका अनुभव उत्तर देता है। तो आपको न केवल दूसरे के अनुभव पर बल्कि अपने अनुभव पर भी प्रश्न और शंका खड़ी करनी है। अब हम पुनः अनुभूति के प्रश्न को लें। हर अनुभूति किसी पुराने अनुभव की ही पुनरावृत्ति है अर्थात् हर अनुभूति इससे पहले भी अनुभव की जा चुकी है—अन्यथा आप इसे पहचान ही नहीं पायेंगे। उदाहरण के लिए, जब आप कहते हैं कि मुझे सुख की अनुभूति हुई, तो इसका अर्थ है कि सुख का अनुभव आपको पहले से है। आप अपने संस्कारों के अनुसार किसी अनुभूति को अच्छी, बुरी, धार्मिक, अधार्मिक इत्यादि के रूप में पहचानते हैं—इसलिए हर अनुभूति की पहचान अनिवार्यतः पुरानी है।

हम सभी सत्य और वास्तविकता की अनुभूति प्राप्त करना चाहते हैं। किसी चीज़ को अनुभव करने का अर्थ है, उसको जानना। इस लिए जिस क्षण हम वास्तविकता को जान और पहचान लेंगे, यह हमारे मन में चित्रित हो जायेगी। फिर यह वास्तविकता है ही कहाँ, क्योंकि यह तो विचार और समय के जगत का एक हिस्सा हो गया। जिस वास्तविकता के संबंध में विचार सोच सकता है, वह वास्तविकता है ही नहीं। अगर कोई अनुभूति सचमुच नयी और अभूतपूर्व हो, तो हम उसे नहीं पहचान सकते। उसे पहचानना असंभव है। हम केवल उस चीज़ को पहचान सकते हैं जिसे हम पहले से जानते हैं। इसलिए जब कभी हम कहते हैं कि हमें तो एक बिलकुल नयी अनुभूति हुई, तो हम अनजाने ही एक झूठ बोल रहे हैं। आजकल विभिन्न मादक द्रव्यों के माध्यम से चेतना के फैलाव द्वारा जो एक नयी अनुभूति प्राप्त की जाती है वह चेतना के भीतर की ही एक घटना है और इसलिए एक निहायत क्षुद्र और छोटी-सी बात है।

इस तरह हमने एक अत्यंत मौलिक और मूल्यवान सत्य का पता लगा लिया है और वह यह कि जो मन तथाकथित एक गहरी और

अद्‌भुत अनुभूति पाने के लिए लालायित और प्रयत्नशील रहता है, वह मन अत्यंत छिछला और कूपमंडूक होता है, क्योंकि वह सदा अपनी स्मृतियों में ही डूबा हुआ जीता है।

अब अगर हमारे पास कोई अनुभूति हो ही नहीं, तो हमारा क्या होगा ? हम अनुभूतियों और चुनौतियों पर निर्भर रहते हैं ताकि अपने को जगाये रख सकें। अगर हमारे भीतर कोई संघर्ष, व्यवधान और परिवर्तन न हो, तो हम गहरी नींद में चले जायेंगे। इस तरह चुनौतियाँ अधिकांश लोगों के लिए आवश्यक हो जाती हैं। हम सोचते हैं कि अगर हमारे पास चुनौतियाँ न हों, तो हमारा मन मंद, सुस्त और चौपट हो जायेगा, और इसलिए हम अनुभूतियों और चुनौतियों की ओर उन्मुख होते हैं ताकि हमें निरंतर उत्तेजना और तीव्रता मिलती रहे और हमारा मन तेज और तीक्ष्ण बना रहे। लेकिन वस्तुतः अपने को जगाये रखने के लिए चुनौतियों और अनुभूतियों पर निर्भर होने से हम केवल अधिक से अधिक मंद और संवेदनशून्य हो जाते हैं—जगे रहना तो दूर की बात है। इसलिए अब मैं स्वयं से पूछ रहा हूँ, "क्या बिना किसी अनुभूति और चुनौती के समग्र रूप से जाग्रत रहना संभव है ?" अपने अस्तित्व की सतह और परिधि पर के थोड़े-से बिंदुओं पर ही नहीं बल्कि अपने प्राणों के अंतरतम में समग्र रूप से जाग्रत रहना क्या संभव है ? इसके लिए चाहिए अपार संवेदनशीलता—शारीरिक और मानसिक दोनों तलों पर। इसका अर्थ है, मुझे अपनी सभी माँगों से मुक्त होना पड़ेगा—क्योंकि जिस क्षण मैंने माँगा कि मैं अनुभूति के मोहजाल में पड़ा। और तृप्ति की सभी माँगों से मुक्त होने के लिए मुझे अपने भीतर गहराई में जाकर जाँच-पड़ताल करनी होगी और तृप्ति की पूरी प्रकृति और इसके स्वरूप को समझना होगा।

माँग से ही द्वैत का जन्म होता है। जैसे—मैं दुःखी हूँ और मैं किसी प्रकार सुखी होना चाहता हूँ। तो इस सुखी बनने की माँग में ही दुःख छिपा हुआ है। जब कोई अच्छा बनने के लिए चेष्टा करता है, तो इस अच्छाई की चेष्टा में ही इसका विपरीत यानी बुराई छिपी हुई

है। इस तरह वह हर चीज़ जो आरोपित की जाती है अपने साथ अपने विपरीत को भी लिये हुए चली आती है। किसी चीज़ पर काबू पाने का प्रयास उस चीज़ को और भी अधिक मजवूत कर देता है जिसके विरुद्ध यह प्रयास और संघर्ष किया जा रहा है। जव आप सत्य और वास्तविकता की अनुभूति की माँग करते हैं, तो यह माँग 'जो है' उससे आपके असंतुष्ट होने के कारण पैदा होता है। इस तरह हर माँग 'जो है' उसके विपरीत की चाह और खोज है। और हर विपरीत में अतीत की स्मृति वीज रूप में मौजूद है। मनुष्य के भीतर किसी न किसी माँग का जो यह निरंतर क्रम चल रहा है उससे उसे मुक्त होना होगा अन्यथा द्वन्द्व के इस विस्तार का फिर कोई अंत नहीं है। इसका अर्थ है, स्वयं को इतनी समग्रता से जानना कि मन की सारी खोज और दौड़-धूप स्वतः बंद हो जाये।

ऐसा मन किसी भी अनुभूति की माँग नहीं करता। न यह किसी चुनौती की राह देखता रहता है। यह चीजों को उनके सहज-स्वाभाविक रूप में लेता है न कि चुनौती के रूप में। यह ऐसा कभी नहीं कहता, "मैं गहरी नींद में हूँ" या "मैं जाग्रत हूँ"। यह पूर्णतः वही है जो यह है। 'और अधिक' की चाह एवं खोज में केवल छिछला, कुंठित, संकुचित और संस्कारवद्ध मन भटकता रहता है। तो क्या इस 'और अधिक' से मुक्त होकर, अर्थात् तुलनाओं के इस अनंत क्रम से मुक्त होकर, इस संसार में जीना संभव है ? यह निश्चित रूप से संभव है। लेकिन इसके लिए आपको स्वयं इस प्रश्न की गहराई में उतरना होगा।

इस पूरे प्रश्न की जाँच-पड़ताल ही ध्यान है। ध्यान शब्द का प्रयोग पूरब में और पश्चिम में दोनों जगहों पर अत्यंत दुर्भाग्यपूर्ण ढंग से हुआ है। ध्यान की विभिन्न परंपराएँ, पद्धतियाँ और विधियाँ प्रचलित रही हैं। एक पद्धति कहती है, "चलते हुए अपने पैर के अँगूठे की गतिविधि को देखते जाओ, देखते जाओ, देखते जाओ।" कुछ दूसरी पद्धतियाँ हैं जो नियमित रूप से आसन और प्राणायाम करने का और

एक विशेष मुद्रा में बैठने का निर्देश देती हैं। एक अन्य पद्धति में सजगता का अभ्यास कराया जाता है। लेकिन ये सारी क्रियाएँ एकदम यांत्रिक हैं। अभी एक नयी पद्धति जो चली है उसमें आपको एक विशेष शब्द या मंत्र दे दिया जाता है और कहा जाता है कि अगर आप इसको दोहराते चले जायें, तो आपको एक अद्‌भुत 'भावातीत' अनुभूति प्राप्त होगी। यह बिलकुल बकवास है। यह आत्म-सम्मोहन का ही एक ढंग है। अनिश्चित काल तक 'ओम्' या 'आमेन' या 'कोकाकोला' शब्द को दोहराते रहने से आपको कुछ न कुछ अनुभूति तो अवश्य मिलेगी, क्योंकि किसी शब्द को बार-बार दोहराने से मन स्वभावतः शांत हो जाता है। यह एक मामूली-सी चीज़ है जो भारत में हजारों वर्षों से प्रचलित हैं—जप-योग या मंत्र-योग के नाम से। तो इस बार-बार के दोहराने से आप स्वभावतः मन को थोड़ा मृदु और नम्र होने के लिए राजी कर सकते हैं, लेकिन तब भी तो यह वही क्षुद्र, निकृष्ट और दीन-हीन मन रहेगा जो यह पहले था। भक्ति और पूजा का मनोविज्ञान अगर आपको जानना है, तो आप कहीं से एक छड़ी या कोई वस्तु लाकर अपने घर में उसे एक ऊँचे स्थान पर सजाकर रख दीजिये और हर दिन उसपर फूल चढ़ाइये, धूप-अगरबत्ती दिखाइये। एक महीने के अंदर यह आपके लिए निष्ठा, भक्ति और पूजा की वस्तु हो जायेगी। फिर किसी दिन यदि आप इसपर फूल नहीं चढ़ायें, धूप-दीप नहीं दिखायें तो आपको लगेगा कि पाप हो गया।

ध्यान का अर्थ किसी पद्धति का अनुसरण नहीं है। यह अनुकरण या किसी शब्द की निरंतर पुनरावृत्ति भी नहीं है। ध्यान एकाग्रता नहीं है। ध्यान को एकाग्रता से जोड़ने का काम ध्यान सिखानेवाले कुछ होशियार और चालाक गुरुओं ने किया है। वे अपने शिष्यों को एक तरकीब बता देते हैं कि मन को एक विशेष विचार पर केंद्रित करो तथा इसके अतिरिक्त और सब विचारों को मन से बाहर निकाल दो। यह एक निहायत भद्दी और मूर्खतापूर्ण बात है जिसे एक स्कूल का लड़का भी बाध्य होने पर कर सकता है। और इसका खतरा यह है कि इससे आपके भीतर एक भयानक युद्ध और संघर्ष आरंभ हो

जाता है। एक ओर तो यह संकल्प और धारणा कि मुझे अपने मन को किसी न किसी तरह अवश्य एकाग्र करना चाहिए और दूसरी ओर आपका मन जो अपने स्वभाव के अनुसार बार-बार भटककर बाहर चला जाता है। वस्तुतः सही ढंग केवल इतना है कि मन भटककर जिन-जिन चीज़ों की ओर चला जाता है, जो-जो करता है, उसे आप केवल देखते रहिये -- सजग और सचेत होकर। मन जब बार-बार भटक कर कहीं और चला जाता है, तो इसका सीधा अर्थ है कि आपकी रुचि और दिलचस्पी किसी और चीज़ में है।

ध्यान एक ऐसे मन की माँग करता है जो आश्चर्यजनक रूप से सतर्क हो। जीवन की समग्रता की समझ ही ध्यान है जिसमें हर प्रकार के विभाजन और विखंडन समाप्त हो गये हैं। विचार का नियंत्रण ध्यान नहीं है-- इसलिए कि जब विचार का नियंत्रण किया जाता है तो यह मन में संघर्ष और द्वंद्व उत्पन्न करता है। लेकिन जब आप विचार की उत्पत्ति और इसके ढाँचे को समझते हैं—जिसकी छानबीन हम पहले ही कर चुके हैं—तो विचार का हस्तक्षेप बंद हो जाता है। विचार की प्रक्रिया के पूरे ढाँचे की समझमात्र अपने आपमें अनुशासन है। यही ध्यान है।

ध्यान का अर्थ है : अपने अंदर उठने वाले एक-एक विचार और भाव के प्रति सजग रहना। यह नहीं कहना कि यह विचार अच्छा है, यह विचार गलत है। इन्हें केवल देखते रहना और इनके साथ-साथ चलते रहना। इस निरीक्षण में ही आप विचार और भाव की पूरी गतिविधि को समझने लगते हैं। इसी सजगता से मौन का जन्म होता है। विचार द्वारा जबरन पैदा किया गया मौन तो एक शव की जड़ता के समान है। विचार जब अपने स्वरूप और अपनी उत्पत्ति को समझ लेता है, जब विचार यह देख लेता है कि चाहे यह कितनी ही ऊँची उड़ान या छलाँग लेना चाहे यह अपनी ही जंजीरों में जकड़ा है, अपने ही कारागृह में कैद है अर्थात् यह अपना बंधन स्वयं है, एवं जब विचार यह भी समझ लेता है कि यह स्वभाव से ही पुराना है और इसके

रहते किसी 'नये' का अभ्युदय और आगमन नहीं हो सकता—तो इसके पश्चात् जिस मौन का जन्म होता है वही ध्यान है। इस ध्यान में ध्यानी का अस्तित्व नहीं होता। मन ने अपने को अब अतीत से रिक्त कर लिया है।

अगर आपने केवल एक घंटे के लिए भी इस पुस्तक को ध्यान से पढ़ा है, तो यह ध्यान है। लेकिन अगर आपने इस पुस्तक से केवल कुछ शब्दों को चुन लिया है, कुछ विचारों को इकट्ठा कर लिया है, बाद में उनपर सोचने-विचारने के लिए, तो यह ध्यान नहीं है। ध्यान मन की वह अवस्था है जो हर चीज़ को उसके समग्र रूप में पूर्ण सजगता और होश के साथ देखती है। और आप सजग, सचेत एवं होशपूर्ण कैसे हों—यह आपको कोई सिखा नही सकता। अगर यह आप किसी पद्धति से सीख रहे हैं, तो आप उस पद्धति के प्रति भले ही सजग हों, लेकिन यह सजगता नहीं है। ध्यान जीवन की महानतम कलाओं में से एक है। बल्कि शायद यह महानतम कला है। यह कला संभवतः दूसरे से नहीं सीखी जा सकती, यही इसका सौंदर्य है। ध्यान की कोई तकनीक और तरकीब नहीं होती, इसका कोई अधिकारी और गुरु नहीं होता। जब आप स्वयं का निरीक्षण करते हुए अपने बारे में सीखते हैं—किस तरह आप खाते-पीते हैं, किस ढंग से आप चलते-फिरते हैं, किस तरह की बातचीत और गपशप करते हैं, आपका ईर्ष्या करना, नफरत करना आदि—जब आप अपने भीतर और बाहर की इन सारी चीज़ों के प्रति सजग और सचेत होते हैं, बिना किसी चुनाव के, तो यह ध्यान का ही एक अंग है।

इसलिए यह ध्यान हर जगह और हर समय हो सकता है—जब आप किसी बस में बैठे हैं या जब आप धूप और छाया से भरे किसी जंगल में टहल रहे हैं या जब आप पक्षियों के कलरव को सुन रहे हैं या जब आप अपनी पत्नी या अपने बच्चे के चेहरे को देख रहे हैं।

इस ध्यान की समझ में ही प्रेम का पौधा उगता है। इस प्रेम का संबंध न किसी आदत और अनुकरण से है और न किसी पद्धति और

प्रणाली से। प्रेम विचार की पैदाइश नहीं है। प्रेम का पदार्पण शायद तभी हो सकता है जब पूर्ण मौन हो। ऐसा मौन जिसमें ध्यानी पूर्णतः अनुपस्थित है। और मन तभी मौन और चुप हो सकता है जब यह विचार और भाव के रूप में अपनी सारी गतिविधि को समझ लेता है। विचारों और भावों की इस गतिविधि को समझना तभी संभव है जब इनका निरीक्षण करते समय इनकी निंदा न की जाये। इस तरह से निरीक्षण और अवलोकन करना ही अनुशासन है। इस प्रकार का अनुशासन उन्मुक्त और तरलवत होता है। यह नियमबद्धता का अनुशासन नहीं है।

सोलह

समग्र क्रांति—धार्मिक मन—ऊर्जा—आवेग

इस पूरी पुस्तक में हमारा संबंध जिस बात से रहा है वह है, अपने भीतर और अपने जीवन में एक समग्र क्रांति लाना। इस क्रांति का सामाजिक ढाँचे से कुछ लेना-देना नहीं है। अभी जो समाज है वह एक भयावह चीज़ है जिसमें युद्ध और आक्रमण का एक अंतहीन सिलसिला जारी है—ये आक्रमण विस्तारवादी हों या प्रतिरक्षात्मक। वस्तुतः हमें एक ऐसी चीज़ की आवश्यकता है जो बिलकुल नयी हो—एक क्रांति, एक रूपांतरण—मानस और चित्त में। मनुष्य के आपसी संबंधों में उत्पन्न इस संकट और समस्या को हमारा यह पुराना मस्तिष्क हल नहीं कर सकता। पुराना मस्तिष्क तो एशियाई, यूरोपीय, अमरीकी और अफ्रीकी बना बैठा है। इसलिए हम स्वयं से एक मौलिक प्रश्न कर रहे हैं : क्या स्वयं मस्तिष्क की कोशिकाओं के भीतर एक आमूल परिवर्तन लाना संभव है ?

अब, जबकि हमने स्वयं को बेहतर ढंग से समझ लिया है तो पुनः एक बार हम पूछें : क्या यह संभव है कि एक आदमी जो साधारण-सा जीवन बिता रहा है इस निर्दय, निष्ठुर और हिंसक संसार में—वह संसार जो दिन-प्रति-दिन जितना ही सक्षम और समर्थ होता जा रहा है उतना ही निर्दय और निष्ठुर भी—तो क्या उस आदमी के लिए यह संभव है कि वह न केवल अपने बाहरी संबंधों में बल्कि अपने विचार, भाव, क्रिया और प्रतिक्रिया के पूरे क्षेत्र में एक क्रांति ले आये ?

इस संसार में आप प्रतिदिन अपने चारों ओर ऐसी भयानक घटनाओं को अपनी आँखों से देखते हैं या इनके बारे में पढ़ते हैं जो मनुष्य के भीतर मौजूद हिंसा के परिणाम हैं। आप कह सकते हैं, "मैं इस संबंध में कर ही क्या सकता हूँ" या "संसार को प्रभावित करना मेरे बस में नहीं है।" मैं समझता हूँ कि आप प्रचंड रूप से इस संसार को

प्रभावित कर सकते हैं, अगर आप स्वयं अपने भीतर हिंसक नहीं हैं, अगर आप प्रतिदिन सचमुच एक शांत जीवन जी रहे हैं—एक ऐसा जीवन जो प्रतिस्पर्धा, महत्त्वाकांक्षा और ईर्ष्या से प्रेरित नहीं है; एक ऐसा जीवन जो शत्रुता पैदा नहीं करता है। एक छोटी-सी चिनगारी ज्वाला बन सकती है। हमने अपने स्वकेन्द्रित क्रियाओं द्वारा, अपने पूर्वाग्रहों द्वारा, नफरत और राष्ट्रीयता की भावनाओं द्वारा संसार को दुर्दशा और दुर्गति के वर्तमान कगार पर लाकर खड़ा कर दिया है। और जब हम कहते हैं कि हम इस संबंब में कर ही क्या सकते हैं, तो इसका अर्थ है कि हम अपने भीतर की अव्यवस्था को एक अवश्यंभावी और स्थायी सत्य के रूप में स्वीकार कर रहे हैं। वास्तविकता यह है कि हमारे कारण यह संसार छिन्न-भिन्न हो रहा है, खंड-खंड हो रहा है, और अगर हम स्वयं टूटे हुए और खंडित हैं तो संसार के साथ हमारा संबंध भी खंडित होगा। लेकिन अगर हम अपनी प्रत्येक क्रिया को समग्रता के साथ करें, तो संसार के साथ हमारे सम्बन्धों में एक प्रचंड क्रांति आ जाती है।

किसी भी सार्थक क्रांति या महत्त्वपूर्ण वदलाव की शुरुआत हममें से प्रत्येक व्यक्ति से होनी चाहिए। वस्तुतः पहले मुझे स्वयं बदलना होगा। मुझे देखना चाहिए कि संसार के साथ मेरा जो सम्बन्ध है उसका स्वरूप और उसका ढाँचा क्या है। इस देखने में ही 'करना' छिपा हुआ है। इस तरह इस संसार में जीनेवाले एक मनुष्य के नाते मैं अपने भीतर एक नयी और भिन्न गुणवत्ता की आवश्यकता महसूस करता हूँ। और मेरी दृष्टि में यह गुणवत्ता एक धार्मिक मन की गुणवत्ता है।

एक धार्मिक मन धर्म में विश्वास करनेवाले मन से सर्वथा भिन्न होता है। अगर आप वस्तुतः धार्मिक हैं, तो आप एक हिंदू, एक मुसलमान, एक ईसाई या एक बौद्ध कदापि नहीं हो सकते। एक धार्मिक मन का अर्थ है जिस मन की सारी खोज और भाग-दौड़ खत्म हो गयी। एक धार्मिक मन सत्य के नाम पर प्रयोग और परीक्षण में

व्यस्त नहीं रहता। सत्य कोई ऐसी चीज़ नहीं है जो आपके सांप्रदायिक संस्कारों के या आपके सुख-दुख के इशारों पर चले। एक धार्मिक मन, मन की वह अवस्था है जिसमें भय का लेश भी शेष नहीं है। इसलिए वहाँ कोई धार्मिक आस्था और विश्वास भी नहीं है। मन की इस धार्मिक अवस्था में तो केवल वही शेष रह गया है 'जो है'— 'जो वस्तुतः है'।

धार्मिक मन में एक अजस्र और अविच्छिन्न मौन शेष रह जाता है। इसकी छानबीन हम पहले ही कर चुके हैं। यह मौन विचार का परिणाम नहीं है बल्कि सजगता का सहज प्रतिफलन है। अर्थात् यह मौन वह ध्यान है जिसमें ध्यानी का लय और लोप हो गया है। इस मौन के भीतर ऊर्जा की एक अवस्था है, जो संघर्ष से पूर्णतः मुक्त है। यहाँ हम यह समझ लें कि ऊर्जा क्या है।

ऊर्जा हमारी सारी क्रिया और हमारी सारी गतिविधि है। सारी की सारी क्रिया एक प्रवाह और गति है, इसलिए यह ऊर्जा है। सारी इच्छा और वासना ऊर्जा है। सारा विचार और भाव ऊर्जा है। संपूर्ण जीवन ऊर्जा है। हमारा सारा जीना ऊर्जा है। अगर बिना किसी संघर्ष, विरोध और अवरोध के इस ऊर्जा को बहने दिया जाये, तो यह ऊर्जा अनंत और असीम हो जाती है। जब कोई भी अवरोध नहीं होता, तो ऊर्जा की सीमाएँ नहीं होतीं। अवरोध के कारण ही ऊर्जा को सीमाएँ मिल जाती हैं। इस बात को अच्छी तरह देखने-समझने के बाद भी मनुष्य सदा इस ऊर्जा के भीतर अवरोध क्यों खड़ा करता है? यह प्रवाह और गति जिसे हम जीवन कहते हैं, इसके भीतर मनुष्य अवरोध क्यों पैदा करता है? शुद्ध ऊर्जा, सीमा रहित ऊर्जा क्या उसके लिए केवल एक विचार और धारणा है? क्या इसकी वास्तविकता इतनी अस्पष्ट और अदृश्य है?

स्वयं के भीतर एक समग्र क्रांति लाने के लिए हमारे पास ऊर्जा का होना आवश्यक है और साथ ही देखने के लिए, जाँच-पड़ताल करने के लिए और सही कदम उठाने के लिए भी ऊर्जा की उतनी

ही आवश्यकता है। जब किसी भी प्रकार का अवरोध हमारे परस्पर संबंधों में कहीं न कहीं होता है, यह संबंध चाहे जहाँ भी हो—पति और पत्नी के बीच, आदमी और आदमी के बीच, एक समुदाय और दूसरे समुदाय के बीच, एक राष्ट्र और दूसरे राष्ट्र के बीच, एक विचार धारा और दूसरी विचारधारा के बीच अर्थात् जब कभी किसी प्रकार का आंतरिक अवरोध या बाह्य संघर्ष होता है, चाहे वह कितना ही सूक्ष्म क्यों न हो— तो ऊर्जा का नाश और क्षय होता है।

जब तक द्रष्टा और दृश्य के बीच समय का एक अंतराल है, यह अवरोध उत्पन्न करता है, और इसलिए ऊर्जा का नाश अवश्यंभावी है। यह ऊर्जा तब अपने उच्चतम बिंदु पर जाकर इकट्ठी हो जाती है, जब द्रष्टा दृश्य हो जाता है अर्थात् जब समय का अंतराल पूर्णतः मिट जाता है, तब इस ऊर्जा के पीछे कोई प्रेरणा और प्रयोजन नहीं होता। तब यह ऊर्जा कार्य करने के लिए अपना मार्ग स्वयं ढूंढ़ लेती है, क्योंकि तब 'मैं' का अस्तित्व नहीं होता।

हम जिस अव्यवस्था और उलझन में जीते हैं उसे समझने के लिए हमारे पास प्रचुर मात्रा में ऊर्जा होनी चाहिए। और यह भाव कि "मुझे अवश्य समझना चाहिए" खोजने के लिए आवश्यक शक्ति और बल उत्पन्न करता है। लेकिन खोजने और ढूँढ़ने में समय निहित है जैसा कि हमने देखा है कि अगर मन को संस्कारशून्य करना हो, तो यह काम धीरे-धीरे, क्रमशः नहीं किया जा सकता। समय इसका सही मार्ग और ढंग नहीं है। चाहे हम जवान हों या बूढ़े, लेकिन अगर जीवन की पूरी प्रक्रिया को एक भिन्न आयाम देना है, तो यह 'अभी' संभव है। 'हम जो हैं' महज उसके विपरीत की खोज भी सही मार्ग और ढंग नहीं है। एक दार्शनिक द्वारा या एक पद्धति, एक गुरु या साधु-संन्यासी द्वारा थोपा गया कृत्रिम अनुशासन भी सही मार्ग नहीं है। यह सब तो निहायत बचकानी बातें हैं। तो जब हम इस सबको बोधपूर्वक महसूस करते हैं, तो हम स्वयं से पूछते हैं : क्या यह संभव है कि सदियों पुराने संस्कारों की इस दीवार और बाधा

को हम तत्काल पार कर जायें और संस्कारों के दूसरे जाल में न उलझें—बल्कि सदा मुक्त रहें ताकि हमारा मन एकदम नया, जीवंत, तीव्र, संवेदनशील, सजग और समर्थ हो सके ? और यही हमारी समस्या है। दूसरी समस्या है नहीं। मन जब नया हो जाता है यानी इसका पूर्ण कायाकल्प, तो यह किसी भी समस्या का सामना और समाधान अपने-आप कर सकता है। और यही एकमात्र प्रश्न है जिसे हमें स्वयं से पूछना है।

लेकिन हम कभी नहीं पूछते। हम तो चाहते है कि कोई बता दे हमें। हमारे मानस और चित्त की सबसे अधिक विचित्र एवं अजीब बात यह है कि हमें केवल दूसरों से उत्तर की आशा रहती है। यह इसलिए कि पाँच-दस हजार वर्षों में धर्म के इस संगठित प्रचार ने हमारी सोच-समझ को पूरी तरह पंगु और पराश्रित बना दिया है। हम केवल उतना ही सोचने विचारने का साहस करते हैं जो सर्वमान्य और सर्वसम्मत है यानी जिसकी पुष्टि दूसरे लोग भी करते हैं—जबकि वास्तविक अर्थों में हर प्रश्न हमारे प्राणों के भीतर से निकलना चाहिए और उसका समाधान भी। मैं जो कह रहा हूँ उसका बहुत मूल्य नहीं है। उसे तो आप यह पुस्तक बंद करने के साथ ही भूल जायेंगे या कुछ उक्तियों को याद रखेंगे और यहाँ-वहाँ उसे दोहराया करेंगे या आपने इस पुस्तक में जो कुछ पढ़ा उसकी तुलना किसी दूसरी पुस्तक से करेंगे। लेकिन दुःख तो यह है कि आप अपने जीवन का सामना कभी नहीं करेंगे। और सारा महत्त्व और मूल्य इसी का है। आपका जीवन, आप स्वयं, आपकी क्षुद्रता और आपका छिछलापन, आपका लोभ, आपकी महत्त्वाकांक्षा, आपकी हिंसा, आपकी क्रूरता, हर रोज का आपका दुःख और दर्द, आपकी पीड़ा और परेशानी—यह सब आपको समझना है। इनसे आपको उबारने के लिए, आपका उद्धार करने के निए न पृथ्वी पर कोई व्यक्ति मौजूद है, न स्वर्ग में। लेकिन आप स्वयं अपने आपको उबार अवश्य सकते हैं।

आपके दैनिक जीवन में जो कुछ हो रहा है, जो कुछ चल रहा है, उसे देखते हुए, अर्थात् दिनभर की अपनी सारी क्रियाओं और गति-

विधियों का निरीक्षण करते हुए—जब आप बात करते हैं, जब आप अपनी कलम उठाते हैं, जब आप मनोरंजन के लिए कहीं निकल पड़ते हैं या जब आप सुनसान जंगलों में अकेले घूम रहे होते हैं—तो अपनी इन क्रियाओं और गतिविधियों के दौरान क्या आप एक साँस में, एक झलक में स्वयं को एकदम सरलतापूर्वक जान सकते हैं, जो आप हैं ? जब आप स्वयं जैसे हैं उसे जान लेते हैं, तो मनुष्य की सारी खोज, सारा प्रयास, छल-प्रपंच, पाखंड, सब आपकी समझ में आ जाता है। लेकिन यह जानने-समझने के लिए आपको अपने साथ समग्र रूप से ईमानदार होना चाहिए—अपने पूरे अस्तित्व और प्राणों से। जब आप अपने सिद्धांतों के अनुसार चलते हैं तो आप एकदम गलत जा रहे हैं, क्योंकि सिद्धांत आपका आदर्श भर है, आपकी हक़ीकत या वास्तविकता नहीं। और कोई भी आदर्श रखना क्रूरता का चिह्न है। अगर आपका कोई सिद्धांत, आदर्श या विश्वास है, तो आप संभवतः स्वयं को सीधे रूप से नहीं देख सकते। तो क्या आप पूर्णतः नकारात्मक, निर्विचार, निर्भय और शांत हो सकते हैं—और फिर भी अद्‌भुत आवेग से भरे हुए, जीवंत ?

मन की ऐसी अवस्था जब वह किसी संघर्ष और प्रयास के काबिल नहीं रह जाता—वही सच्चा धार्मिक मन है। मन की इसी अवस्था में आपका साक्षात्कार उस चीज़ से हो सकता है जिसे सत्य, वास्तविकता, परमानंद, परमात्मा, सौंदर्य, प्रेम इत्यादि विभिन्न नामों से पुकारा जाता है। इस चीज़ को आप आमंत्रित नहीं कर सकते। कृपया आप इस अत्यंत सीधी और सरल-सी बात को समझ लें। इस चीज़ को आप आमंत्रित नहीं कर सकते। इसे आप खोज-ढूँढ़ भी नहीं सकते। क्योंकि मन इसके लिए छोटा पड़ जाता है। मन तो एकदम नादान और नासमझ है। आपकी भावनाएँ बिलकुल कृत्रिम और निरर्थक हैं। आपका जीवन और आपका रहन-सहन इतना अस्तव्यस्त और अव्यवस्थित है तथा इस विराट् जीवन के जिस छोटे-से कोने में आप जी रहे हैं वह इतना गंदा, मैला और जीर्ण-शीर्ण है कि उसमें आप उस अनंत और असीम चीज़ को आमंत्रित नहीं कर सकते। किसी

चीज़ को आमंत्रित करने के लिए आपका उसे जानना जरूरी है। लेकिन इस चीज़ को तो आप जान ही नहीं सकते। अब यह महत्त्वपूर्ण नहीं है कि यह कौन कहता है। अगर कोई कहता है, "मैं उसे जानता हूँ", तो इसका अर्थ है कि वह नहीं जानता। जिस क्षण आप कहते हैं कि आपने उसे पा लिया, तो आपने अभी कहाँ पाया ! अगर आप कहते हैं कि आपको इसकी अनुभूति हो चुकी है, तो इसका अर्थ है कि आपको इसकी अनुभूति कभी हुई ही नहीं। ये सब केवल दूसरे के शोषण करने के ढंग और रास्ते हैं। यह शोषण आप चाहे अपने मित्र का करें या शत्रु का।

तो हम स्वयं से पूछ रहे हैं कि क्या बिना किसी आमंत्रण, प्रतीक्षा, प्रयास और खोज के इस चीज़ का साक्षात्कार करना संभव है ? अर्थात् इसको उस शीतल हवा की तरह आने देना जो अचानक खुली खिड़की से आपके कमरे में प्रवेश कर जाती है। आप उस शीतल समीर को, मंद बयार को आमंत्रित नहीं कर सकते, लेकिन आपको अपनी खिड़की खोलकर रखनी चाहिए। इसका अर्थ यह नहीं कि आप खिड़की खोले बैठकर प्रतीक्षा कर रहे हैं - तब तो यह छल-कपट है, आत्मवंचना है। जब आप स्वयं को इसीलिए खुला रखते हैं क्योंकि आप कुछ ग्रहण कर सकें—तो यह विचार से ही निकला कृत्य है।

क्या आपने यह स्वयं से कभी नहीं पूछा है कि आखिर मनुष्य के पास यह चीज़ क्यों नहीं है ? वह बच्चे पैदा करता है, कामवासना का सुख भोगता है, मित्रता, दोस्ती, संग-साथ में मिल-जुलकर रहना, आपस में बाँटकर जीना, रस, माधुर्य, लालित्य, नज़ाकत, ये सब उसे प्राप्त हैं, लेकिन इस एक चीज़ से वह वंचित क्यों है ? क्या आपको कभी इस पर आश्चर्य नहीं होता ? कभी भी ? तंद्रा और आलस्य के क्षणों में, कभी किसी सुनसान सड़क पर अकेले टहलते हुए या किसी गंदी-सी गली से गुजरते हुए या बस में बैठे हुए या किसी समुद्र किनारे अपनी छुट्टियाँ बिताते हुए या झरनों, पेड़ों, पक्षियों, पशुओं के बीच किसी जंगल में टहलते हुए—इनमें से किसी भी अवसर पर क्या

आपको इस जिज्ञासा से सामना नहीं हुआ है कि मनुष्य जो लाखों वर्षों से इस पृथ्वी पर रहता आया है, इस चीज़ को क्यों नहीं हासिल कर पाया है ? इस कभी न मुरझानेवाले अद्भुत फूल को वह क्यों नहीं प्राप्त कर पाया है ? आखिर क्या कारण है कि आप यानी एक मानव-जो इतना समर्थ, होशियार, धूर्त और प्रतियोगी है, जिसके पास अद्भुत तकनीकी ज्ञान है, जिसने आकाश, धरती और समुद्र नाप डाले हैं, जिसके पास एक से बढ़कर एक कंप्यूटर है—लेकिन जो सबसे मूल्यवान चीज़ है वह उसके पास यानी आपके पास क्यों नहीं है ? पता नहीं, आपने कभी गंभीरता से इस प्रश्न का सामना किया है या नहीं कि आपका हृदय इतना सूना और रिक्त क्यों है !

अगर आप स्वयं के समक्ष इन प्रश्नों को रखें, तो आपका क्या उत्तर होगा ? आपका सीधा उत्तर, बिना किसी लाग-लपेट, बिना शब्द के आडंबर या चालाकी के क्या होगा ? आप जितनी तीव्रता, गहनता और विह्वलता से इस प्रश्न को पूछेंगे उसी के अनुरूप आपका उत्तर होगा। लेकिन न आप गहन हैं न विह्वल। वह इसलिए कि आपके पास ऊर्जा नहीं है। ऊर्जा अर्थात् आवेग। और बिना आवेग के आप किसी सत्य को नहीं पा सकते। वह आवेग जो प्रचंडता से भरा है। वह आवेग जिसमें कोई भी छिपी हुई चाह और कामना नहीं है। लेकिन यह आवेग आपके लिए शायद एक भयावह वस्तु है, क्योंकि यह आवेग अगर आपके पास हो, तो आप डरते हैं कि पता नहीं यह आपको कहाँ ले जायेगा।

क्या भय के कारण ही आपके पास आवेग की वह ऊर्जा नहीं है, जिससे कि आप पता लगा सकें कि प्रेम की यह गुणवत्ता आपके भीतर क्यों नहीं है, आपके हृदय में प्रेम का यह दीया क्यों नहीं जलता है ? अगर आपने अपने हृदय और मन को टटोला है, उसकी निकटतापूर्वक छानबीन की है, तो आपको पता चलेगा कि आपके पास यह क्यों नहीं है। यह आपके पास क्यों नहीं है—अगर इसकी खोज आप पूरे आवेग से भरकर करें, तो आप अचानक पायेंगे कि यह तो है ही वहाँ। आवेग

का उच्चतम रूप पूर्ण निषेध है। पूर्ण निषेध ही वह द्वार है जिससे होकर प्रेम का आगमन होता है। विनम्रता के समान ही आप प्रेम भी पैदा नहीं कर सकते। अहंकार के पूर्णतः अंत होने पर ही विनम्रता का जन्म होता है। तब आपको कभी पता भी नहीं चलेगा कि विनम्र होना क्या है। वह व्यक्ति जिसको अपने विनम्र होने का पता है, एक अंहकारी पुरुष है। इसी प्रकार जब आप अपने हृदय और मन से, स्नायु और आँखों से, अर्थात् अपने पूरे अस्तित्व और प्राणों से जीवन के मार्ग का पता लगाते हैं, जो वस्तुतः 'है' उसे देखते हैं और उसके पार चले जाते हैं तथा जो आप जी रहे हैं उस जीवन को पूर्णतः और समग्रतः अस्वीकार कर देते हैं, तो जो कुछ कुरूप और क्रूर है उसकी अस्वीकृति में ही 'अन्य' का जन्म होता है। और आप इसे जान भी कहाँ पायेंगे! वह व्यक्ति जो अपने बारे में जानता है कि वह शांत, शून्य और प्रेमपूर्ण है, वस्तुतः उसे पता नहीं है कि प्रेम क्या है या मौन क्या है।

इसी पुस्तक से—

"कोई ईश्वर, सत्य या यथार्थ, या आप इसे जो नाम देना चाहें, है या नहीं, इस प्रश्न का उत्तर पुस्तकों, पुरोहितों, दार्शनिकों एवं मुक्तिदाताओं के पास किसी हालत में नहीं है। कोई भी और कुछ भी इस प्रश्न का उत्तर नहीं दे सकता है - सिवाय आपके। और इसीलिए आपका स्वयं को जानना परम आवश्यक है। स्वयं का पूर्ण अज्ञान ही अपरिपक्वता का कारण है। स्वयं को समझना बोध और प्रज्ञा का प्रारम्भ है।"

"हमारा परिचय अपने 'स्व' के समग्र क्षेत्र से होना चाहिए, जो कि व्यक्ति की चेतना है और समाज की भी। और जब मन वैयक्तिक चेतना और सामाजिक चेतना के पार चला जाता है, तब हम स्वयं अपने लिए एक ज्योति बन सकते हैं जो कभी बुझती नहीं।"

"विचार के मूलभूत कार्यों में से एक यह है कि वह हर समय स्वयं को कुछ न कुछ के साथ बाँधे रखता है, व्यस्त रखता है। हममें से अधिकांश लोग अपने मन को निरंतर व्यस्त रखना चाहते हैं ताकि वस्तुतः हम जो हैं, जैसे हैं, उसे देखने से बचे रहें। खाली रहने पर हमें भय लगता है। और तो और, हमें अपने भय को देखने से भी भय लगता है।"

"मरने का अर्थ है मन का पूर्णतः शून्य और खाली हो जाना—अपने प्रतिदिन की आकांक्षाओं, सुखों और दुःखों से खाली। मृत्यु एक रूपांतरण, एक नवीनीकरण है जहाँ विचार का अस्तित्व नहीं होता, क्योंकि विचार पुराना है। जहाँ मृत्यु है वहीं कुछ नया जन्म लेता है। ज्ञात से मुक्ति ही मृत्यु है—और तब आपका जीना आरंभ होता है।"